साहित्य का मूल्याङ्कन

लेखक

डब्लू० बेसिल वर्सफोल्ड

अनुवादक एवं समीक्षक

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

विश्वविद्यालय प्रकाशन

गोरखपुर • वाराणसी

डब्ल्यू० बेसिल वर्सफोल्ड कृत 'जजमेंट इन लिटरेचर' पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्रका संक्षिप्त परिचय करानेवाली बड़ी ही सारगर्भित रचना है। लेखकने इस कृतिमें कला और साहित्यके सम्बन्धमें विवेचित एवं निर्णीत पाश्चात्य मान्यताओंको ऐतिहासिक क्रमसे अत्यन्त सुलझे हुए रूपमें प्रस्तुतकर दिया है। कला, साहित्य, प्राचीन आलोचना, रोमैण्टिक आलोचना, रचनात्मक साहित्य और कल्पनाका आनन्द, उन्नीसवीं शती की समीक्षा, साहित्यके मूल्याङ्कनकी प्रक्रिया, साहित्यके रूप—आदि अध्यायोंके अन्तर्गत वह सब कुछ कह दिया गया है जो पाश्चात्य-समीक्षा के सिद्धान्तोंको सारभूत रूपमें प्रस्तुत करनेके लिए अपेक्षित है। इस लोकप्रिय रचनाके हिन्दी-रूपान्तरकी आवश्यकताका अनुभव बहुत दिनोंसे किया जा रहा था। प्रस्तुत कृति 'साहित्यका मूल्याङ्कन' इस आवश्यकताकी पूर्तिका विनम्र प्रयास है। अनुवादकने पुस्तकको अधिक उपयोगी बनानेके लिए प्रायः हर अध्यायके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें तद्विषयक भारतीय मान्यताओंका भी विवेचन प्रस्तुत किया है। कला, साहित्य और उसके मूल्याङ्कनके सम्बन्धमें चिन्तन एवं विवेचनकी भारतकी अपनी समृद्ध परम्परा रही है। इधर हिन्दी-समीक्षाका विकास प्राचीन भारतीय मूल्यों एवं आधुनिक पाश्चात्य मान्यताओंके समन्वित आधारपर हुआ है। इसलिए दोनोंके तुलनात्मक अध्ययनकी आवश्यकताका अनुभव आज अधिक किया जाने लगा है। प्रस्तुत कृतिमें अनुवादकने इस दिशा

में भी जिज्ञासुओंको अग्रसर करनके लिए प्रारम्भिक प्रयासके रूपमें कुछ तथ्य प्रस्तुत किए हैं। भूमिकामें अनुवादकने पाश्चात्य समीक्षा का—ग्रीक काव्यशास्त्र-रचनाके युगसे लेकर वर्तमान युगतक—संक्षिप्त इतिहास देकर कृतिकी उपयोगिताको और भी बढ़ा दिया है। वर्सफोल्डके सामने उन्नीसवीं शती तककी ही समीक्षा एवं उससे सम्बद्ध विवेचन सामग्री रूपमें था। बीसवीं शतीमें समीक्षा-शास्त्रका अभूतपूर्व विकास हुआ है। भूमिकामें बीसवीं शतीके समीक्षा-सिद्धान्तोंकी भी संक्षिप्त चर्चा कर दी गई है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति समीक्षा-शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए एक अत्यन्त उपयोगी रचना बन गई है। हिन्दी-संसार उदारता पूर्वक इस कृतिका स्वागत करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

भूमिका

पाश्चात्य समीक्षाका विकास

पाश्चात्य कला-चिन्तनका आदि केन्द्र ग्रीक देश है। ज्ञानके सभी क्षेत्रोंमें प्रकाशकी प्रथम रश्मि यहींसे फूटी थी। समीक्षाके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षोंका सूत्रपात प्रसिद्ध ग्रीक चिन्तक प्लेटो (४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०) से माना जाता है। प्लेटोने अपनी प्रसिद्ध कृति "रिपब्लिक"में 'कला'के सम्बन्धमें विचार करते हुए उसे प्रकृतिकी अनुकृति माना है। प्रकृति स्वयं सत्यकी अनुकृति है। अतः कला अनुकृतिकी अनुकृति होनेके कारण हेय है। इसके अतिरिक्त कला आवेगकी स्थितिमें रची जाती है, इसलिए उसमें, विवेकशील मनःस्थितिका अभाव होता है। उससे दिव्य गुणोंका ह्रास होता है, अतः वह त्याज्य है। प्लेटोने वस्तुसत्यको अधिक महत्त्व दिया और नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठाको मानव-कल्याणके लिए अनिवार्य माना। काव्यको उसने भावोद्रेक-मूलक मानकर नैतिकताका विरोधी समझ लिया। वस्तुतः उसने वस्तु-सत्य और भावनाके सत्यमें अन्तर नहीं किया। इसीलिए उसकी मान्यतायें बहुत कुछ स्थूल रह गई हैं।

अरस्तू (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)ने न केवल प्लेटोकी त्रुटियोंको सुधारा वरन् काव्य-कलाके सम्बन्धमें मौलिक उद्भावनायें भी कीं। उसने काव्यके तत्त्वों और रूपोंके निर्धारणमें अत्यधिक सूक्ष्मदर्शिताका परिचय दिया। कलाको उसने भी अनुकृति ही माना किन्तु उसकी दृष्टिमें कलागत चित्रण यथार्थ या मूलवस्तुकी यथावत् प्रतिकृति न होकर उसके भावित रूपका अंकन है। इस प्रकार अरस्तूने मूल-वस्तुके भावनागत या मनोगत रूप-चित्रणको काव्यका सत्य माना। प्लेटोकी मान्यताओंको सुधारते हुए ही उसने 'कैथार-सिस' (विरेचन) सिद्धान्तकी स्थापना की। प्लेटोने काव्यको आवेग-प्रेरित मानकर उद्वेग-जनक सिद्ध किया था। अरस्तूके अनुसार काव्यगत भाव-चित्र

पाठकके मनमें उद्वेगकी सृष्टि नहीं करते वरन् उसकी भावनाको शुद्ध और निर्मल कर देते हैं। अरस्तू ने व्यावहारिक समीक्षाको अधिक समृद्ध किया। काव्यके तत्त्व, रूप, उद्देश्य सभीके सम्बन्धमें उसने महत्त्वपूर्ण निर्णय दिए। यूरोपीय समीक्षाका सम्पूर्ण विकास अरस्तूके इन निर्णयोंके आधार पर ही हुआ है।

अरस्तूके बाद ग्रीकमें बहुत दिनों तक किसी महान् प्रतिभाने जन्म नहीं लिया। तीसरी शतीमें लॉजाइनसने काव्यके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वकी स्थापनाकी जिसे 'उदात्त शैलीका तत्त्व' कहते हैं। आवेगके क्षणोंमें वक्ता या लेखकका मन ऊर्जस्वल हो जाता है, परिणामतः उसकी शैलीमें उदात्तता आ जाती है। काव्यमें उदात्त-तत्त्वकी स्थापना लॉजाइनसको प्रखर प्रतिभाका परिचायक है।

ग्रीकके बाद यूरोपीय समीक्षाका विकास-केन्द्र रोम हुआ। रोममें दो उल्लेखनीय समीक्षक हुए—**सिसेरो** (१०६-४३ ई० पू०) और **होरेस** (६५-८ ई० पू०)। इन दोनोंकी प्रतिभा सामान्य कोटिकी थी। सिसेरोने तो विशेष रूपसे भाषण-कलाके सम्बन्धमें ही विचार किया है। होरेस एक प्रकार से औचित्यवादी है। वह काव्यके नियमोंके पूर्णतः पालनको आवश्यक मानता है। उसका प्रभाव १८वीं शतीके औचित्यवादियों पर भी पड़ा है।

होरेसके बाद लगभग १००० वर्षों तक इटलीमें किसी महान् विचारकने जन्म नहीं लिया। यूरोपीय कला-चिन्तनका यह अन्धकार युग है। वस्तुतः लाजाइनससे लेकर दान्ते तक—तीसरी शतीसे चौदहवीं शती तक—कला समीक्षाके क्षेत्रमें किसी प्रकारकी मौलिक उद्भावना नहीं हुई। चौदहवीं शतीमें दान्तेने 'वलगरि एलोकियो' (Vulgari Eloquio) की रचना की। उसके पूर्व और उसके बाद भी इटलीमें समीक्षाके क्षेत्रमें जो एक शून्य व्याप्त हो गया था, उसके सम्बन्धमें जॉर्ज सेन्ट्सबरीने लिखा है कि १००० ई० से १६वीं शतीके प्रारम्भ तक दान्तेके 'द वलगरि एलोकियो'के अतिरिक्त एक भी उल्लेखनीय आलोचनात्मक कृति नहीं मिलती—

"And from the year 1000 A. D—the rather imaginary line between 'Dark' and 'Middle'—to the beginning of the sixteenth

century, we meet practically nothing that can be called a critical treatise of substantive importance, except the solitary and in some respects rather puzzling, but extraordinarily valuable document of the De *Vulgari Eloquio* by Dante."
दान्तेने काव्यके रूप-तत्त्व एवं शैलीके परिमार्जन पर बहुत बल दिया है।

सोलहवीं और सत्रहवीं शतीमें पुनर्जागरणकी स्थिति आई। पुनर्जागरण-युगमें दो महत्त्वपूर्ण समीक्षक सर फिलिप सिडनी और बेन जॉनसन हुए। सर फिलिप सिडनीकी प्रसिद्ध कृति 'डिफेन्स ऑव पोयजी' (*Defence of Poesy*) १५९५ ई० में प्रकाशित हुई। इस समय तक शेक्सपियर (१५६४-१६१६) की रचनायें प्रकाशमें आ चुकी थीं। यूरोप का नकशा बदल गया था। धर्मका स्थान मानवताने ले लिया था। दान्ते की ओरसे हटकर लोग शेक्सपियरकी ओर आकर्षित हो रहे थे। मुद्रण-कला विकसित हो गई थी। सिडनीने काव्यका महत्त्व बड़े जोरदार शब्दोंमें प्रतिपादित किया। इंगलैंड कवियोंके साथ सौतेली माँ का व्यवहार क्यों कर रहा है ? (Why, then, has England grown so hard a stepmother to poets ?) हम लोगोंमें यह हीन भावना क्यों है ? (And what is the reason of our inferiority ?) आदि वाक्योंमें उसने काव्य-रचनाका समर्थन किया।

बेनजॉनसन (१५७३-१६३७)ने होरेसकी कृतियोंका अनुवाद किया। उसमें समीक्षा और रचना दोनों की प्रतिभा थी। वह शान्ति, सन्तुलन और मर्यादा चाहता था। (Jonson's tastes were for order, uniformity and classicism) इस युगकी समीक्षा किसी विशिष्ट कविकी कृतियोंका मूल्याङ्कन या विवेचन नहीं करती। समीक्षकोंका ध्यान कलाके उद्देश्य-निर्धारण, कवियों एवं उनकी कृतियोंके वर्गीकरण, तथा छन्द-रचना-पद्धतिके विश्लेषण आदिकी ओर लगा रहा। बेनजॉनसनकी मर्यादा-प्रियता युगकी सामान्य प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं थी। युग स्वतन्त्रता, विभिन्नता और रोमांस (Liberty, Variety, Romance)की ओर बढ़ रहा था।

१७वीं-१८वीं शतीमें समीक्षाका केन्द्र फ्रांस हो गया। फ्रांसके समीक्षकों—**बॉअलो** (Boileau १६१६-१६११ ई०) **ले बोसू** (Le Bossu १६३१

८०)ने नव्यशास्त्रवादी युग (New classicism)की स्थापना की। इन आलोचकोंने प्राचीन सिद्धान्तोंकी नवीन व्याख्या करके उन्हें स्थिर रूप दिया। इन आलोचकों का प्रभाव इंगलैण्डके समीक्षकोंपर भी पड़ा। बेनजानसन और पोप इन फ्रेंच समीक्षकोंसे प्रभावित थे।

ड्राइडेन (१६१०-१७००), एडीसन (१६७२-१७१९) और डॉ० जॉनसन (१७०९-१७८४)ने अंग्रेजी समीक्षाके स्वतन्त्र मानदण्डोंकी स्थापना की। ड्राइडेन अंग्रेजी समीक्षाका जनक है। उसने समीक्षाकी दो नवीन पद्धतियोंको जन्म दिया—तुलनात्मक (Comparative) और ऐतिहासिक (Historical) उसकी प्रसिद्ध समीक्षा-कृति 'ऐसे ऑव ड्रेमेटिक पोएजी' (१६६७ ई०) है। एडीसनने काव्यके आनन्दको कल्पना का आनन्द बताया। कल्पना-तत्त्वका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी-समीक्षाको एडीसनकी बहुत बड़ी देन है। एडीसनने मिल्टनकी आलोचना अपने १८ महत्त्वपूर्ण निबन्धोंमें की। उसने अरस्तूके सिद्धान्तोंको लागू करनेके प्रयत्नमें ही नवीन उद्भावनायें की। डॉ० जॉनसनका महत्त्वपूर्ण कार्य 'लाइफ्ज ऑव दी पोयट्स (१७७८-८१) है। डॉ० जॉनसन पुरातनताके पोषक थे और काव्यमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियोंके विकासके विरोधी थे। वे नैतिकता एवं मर्यादाके प्रबल समर्थक थे। कल्पनात्मक सौन्दर्य (Imaginative beauty)के प्रति उनकी अधिक रुझान नहीं थी; फिर भी वे अँग्रेजी समीक्षाके दृढ़ स्तम्भ हैं।

१८ वीं शतीमें जर्मनीमें लेसिंग (Lessing, १७२९-८१) नामक प्रसिद्ध आलोचक, निबन्धकार और नाटककार हुआ। उसकी प्रसिद्ध-कृति 'लाउकून' (Laocoon, १७६६ ई०)में मूर्ति और चित्रकलाकी विशेषताओंका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है। लेसिंगने सिद्ध किया कि कलाके विविध रूपों—काव्य, चित्र, संगीत, मूर्ति आदि—की अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं।

उन्नीसवीं शतीमें यूरोपमें रोमैण्टिक आन्दोलनका युग आया। जन-जीवनका नवीन उन्मेष जब प्राचीन मर्यादाका उल्लंघन कर जाता है तब रोमैण्टिक प्रवृत्ति का उदय होता है। १८०० ई० के आस-पास नव्यशास्त्रवादी मान्यताओंसे मुक्त होनेकी प्रवृत्ति वर्ड्सवर्थके विचारोंमें झलकने लगी थी। जर्मनीमें श्लेगल (Schlegel, १७६७-१८४५)ने भी रोमैण्टिक भावनाका उन्नयनकर दिया था।

धीरे-धीरे युगकी नवीन चेतना ब्लेक (१७५७-१८८८), वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५०), कोलरिज (१७७०-१८३४), कीट्स (१६९५-१८२१) जैसे कवियों एवं विचारकोंकी वाणीमें अभिव्यक्ति पाने लगी। परम्पराके विरुद्ध कविकी व्यक्तिगत प्रतिभाका विद्रोह, प्रबल भावावेग, संवेदनशीलता तथा अवसादसे समन्वित मनःस्थिति, असामान्य अति-प्राकृत और रहस्यमयता तथा स्वच्छन्दताके प्रति प्रेम, प्रकृति-प्रियता आदि वे सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं जिनका समन्वित उत्कर्ष रोमैण्टिक काव्यधारामें हुआ। इस युगके काव्य-चिन्तनमें अनुभूति और कल्पनाको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। कोलरिजको इस युगका प्रतिनिधि चिन्तक माना जा सकता है। कहा जाता है कि काव्यात्मक अभिव्यक्तिके सम्बन्धमे कोलरिजके कथन अन्तिम हैं। (On poetic expression Coleridge has spoken the absolutely last word) इसीप्रकार काव्यमें कल्पना तत्त्वको मानदण्ड रूपमें स्थापित करनेका श्रेय भी कोलरिजको दिया जाता है। (Coleridge—not Addison, not the Germans, not any other is the real introducer into the criticism of poetry the realising and disrealising Imagination as a criterion.)

उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्द्धमें काव्य-समीक्षाके क्षेत्रमें 'कल्पना'के स्थानपर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्योंको महत्त्व देनेकी प्रवृत्ति पल्लवित होती हुई लक्षित होती है। कार्लाइल (१७९५-१८८१), रस्किन (१८१९-१९००), मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८) और मेकॉले (१८००-१८५६) आदिने काव्यमें नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्योंकी महत्ताका प्रतिपादन किया। मैथ्यू आर्नल्डको इस धाराका प्रतिनिधि समीक्षक कहा जा सकता है। ऑस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००)में उपर्युक्त नैतिक प्रवृत्तिकी प्रतिक्रिया लक्षित होती है। वह काव्य का लक्ष्य केवल आनन्द, समस्त सामाजिक बन्धनोंसे मुक्त होकर कला-चेतनाका शुद्ध आनन्द मानता है। इसी समय फ्रांसमें जोला (Emile Zola) १८४०-१९०२)ने यथार्थवादी-प्रकृतवादी कलाको जन्म दिया। उसकी कला-संबधी मान्यतायें भी परम्परागत नैतिकता एवं मर्यादाकी अवहेलना करनेवाली हैं।

बीसवीं शतीमें चिन्तनकी अनेक धाराएँ विकसित हो रही हैं। जिस समय वर्सफोल्ड (Worsfold)ने 'जजमेंट इन लिटरेचर' लिखा था, उनके सम्मुख

उन्नीसवीं शतीतकका ही साहित्य विवेच्य-सामग्रीके रूपमें उपलब्ध था। इसलिए समीक्षा-क्षेत्रमें प्रचलित उन चिन्ता-धाराओंका विश्लेषण वे नहीं कर सके जिनका विकास वर्तमान शतीमें हुआ है और हो रहा है। बीसवीं शतीमें क्रोचेका **अभिव्यंजनावाद**, फ्रॉयडका **अन्तश्चेतनवाद**, ऑद्रेब्रेतों और पॉल एलुअर्डका **अतियथार्थवाद**, मार्क्सका वस्तुवाद, रिचर्ड्सका **मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद** तथा सार्त्रका **अस्तित्ववाद** आदि वे प्रमुख चिन्ता-धारायें हैं जो कला-समीक्षाको प्रभावित कर रही हैं। इस शतीके कला-चिन्तनपर सबसे अधिक प्रभाव फ्रॉयड और उनकी शिष्य-मण्डली तथा मार्क्स और उनके अनुयायियोंका पड़ा है। क्रोचेका अभिव्यंजनावाद कुछ पुराना पड़ गया है और इधर सार्त्र (Sartre)के अस्तित्वादकी चर्चा अधिक होने लगी है।

क्रोचे (Croche १८६६-१९५२) इटली देशका दार्शनिक एवं विचारक था। उसने कलाके आनन्दको सहजानुभूतिका आनन्द माना है। वस्तुतः उसकी दृष्टिमें ज्ञानके दो रूप हैं—सहज-ज्ञान और बुद्धि-लब्ध-ज्ञान। 'कला' सहज-ज्ञान-प्रसूत होती है और विज्ञान बुद्धि-लब्ध ज्ञानपर आधृत होता है। इसलिए सहज-ज्ञान स्वतः अभिव्यंजना है। सहज-ज्ञानको रूप-ग्रहण करनेमें चार स्थितियाँ पार करनी पड़ती हैं। पहले मन प्रभाव ग्रहण करता है। फिर यह प्रभाव मनोजगतमें ही व्यंजित होता है। इसके बाद आनन्दकी अनुभूति होती है और अन्ततः उसकी स्थूल अभिव्यक्ति रूप, रंग, रेखा या शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे होती है। इसमें मूल वस्तु सहज-ज्ञान या अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना असुन्दर नहीं होती। काव्यका सौन्दर्य अभिव्यंजनाका सौन्दर्य है।

फ्रॉयड (सिगमण्ड फ्रॉयड, १८५६-१९३९ ई०)ने मनोवैज्ञानिक परीक्षणोंके आधारपर काव्यका सम्बन्ध अवचेतन मनसे जोड़ा है। उनके अनुसार मानवकी दमित वासना (जो अवचेतन मनमें पुंजीभूत होती है) ही काव्यमें कल्पना-चित्रोंके रूपमें साकार होती है। इस प्रकार प्रत्येक कविके काव्यको उसकी किसी न किसी दमित वासनाके कलात्मक उद्‌गारके रूपमें समझाया जा सकता है। फ्रॉयडके शिष्य **युंग** (१८७५ ई०में जन्म हुआ था)ने काव्यका सम्बन्ध कलाकारकी स्वायत्त-भावनासे जोड़ा है। वे फ्रॉयडके दमित वासनाके सिद्धान्तको नहीं मानते। उनके अनुसार कलाकारकी स्वायत्त-भावना इतनी प्रबल होती

है कि वह अन्य भावनाओंको दबाकर कला-सृष्टिके रूपमें व्यक्त होती है। कलाके मनोवैज्ञानिक आधारपर एक तीसरे विद्वान् **एडलर** (१८७०-१९३७)ने भी विचार किया है। इसने कला-सृजनके मूलमें कलाकारकी हीन-भावनाको लक्ष्य किया है। इसके अनुसार प्रत्येक महान् कलाकार किसी-न-किसी हीन-भावनासे पीड़ित होता है। कला-सृष्टिके द्वारा वह अपनी इस भावनासे मुक्त होना चाहता है।

अतियथार्थवादी सिद्धान्त भी अन्तश्चेतनावादपर ही आधृत है। अतियथार्थ-वादी कला-कृतिका निर्माण स्वप्न-संवेदनाके आधारपर ऐसे रूपों, बिम्बों और प्रतीकोंके माध्यमसे करना चाहता है जो वास्तविक जीवनमें नहीं मिलते। इस सिद्धान्तका आन्दोलन मूलतः चित्रकलाके क्षेत्रमें चला था। साहित्यमें इसकी प्रतिष्ठा करनेवालोंमे फ्रांसके **आन्द्रे-ब्रेताँ** (Andre Breton) और **पाल एलुअर्द** (Paul Eluard) प्रमुख हैं।

कार्ल-मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०)के वस्तुवादी दर्शनने बीसवीं शतीकी कला-चेतनाको बहुत दूरतक प्रभावित किया है। मार्क्सवादी दर्शनके आधारपर कला-सिद्धान्तोंकी स्थापना **क्रिस्टोफर कॉडवेलने** अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इल्यूजन एंड रियल्टी'में की है। इसके अनुसार कला-कृतियोंकी रचनाके मूलमें युग-विशेषकी वर्ग-चेतना कार्य करती है। मानवता अपनी विकास-यात्रामें क्रमशः पूर्व प्रस्तरयुग, उत्तर-प्रस्तरयुग, राजसत्तायुग, सामन्तयुग और पूंजीवादीयुगको पार कर चुकी है। हर युगका साहित्य अपने युगकी आर्थिक व्यवस्थापर आधृत होता है और साहित्यकार जाने-अनजाने उस वर्गके हितोंकी रक्षा करता है जिसके हाथमें अर्थ-व्यवस्था होती है। साहित्यके सम्बन्धमें इस सिद्धान्तकी स्थापनासे एक लाभ अवश्य हुआ है कि कला-चिन्तन नितान्त समाज-निरपेक्ष होनेसे बच गया।

साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें **आई०ए० रिचर्ड्स** (Ivor Armstrong Richards १८९३—)का सिद्धान्त 'मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद' कहा जा सकता है। रिचर्ड्सकी प्रसिद्ध कृति 'प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (Principles of Literary Criticism) १९२४ ई०में प्रकाशित हुई थी। रिचर्ड्सने कला की निरपेक्ष सत्ताके सिद्धान्तका विरोध किया है। उनकी दृष्टिमें साहित्यकी

अनुभूति जीवनकी अनुभूतिसे सर्वथा भिन्न नहीं है। जब काव्यके सौन्दर्यका भावन करनेके लिए कोई विशेष इन्द्रिय नहीं है और हम जिन इन्द्रियोंसे जीवन-की अन्य अनुभूतियोंको ग्रहण करते हैं उन्हींसे काव्य-सौन्दर्यकी भी भावना करते हैं तो काव्यगत अनुभूतिको लोक-निरपेक्ष क्यों माना जाय ? रिचर्ड्सका महत्त्व इस बातमें है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक आधारपर काव्यानुभूतिको लोका नुभूतिके समकक्ष सिद्ध किया है।

अस्तित्ववाद (Existentialism)को कला-सृजनका आधार बनाने वाले प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक **जाँ पाल सात्र्** (Jean Paul Sartre, १९०५—) हैं। मनुष्यके सामने आज अस्तित्वका प्रश्न इसलिए उठ खड़ा हुआ है कि युगकी यान्त्रिकता उसकी स्वतन्त्रताका हरण करती जा रही है। मशीनोंकी वृद्धिसे मनुष्यकी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति कुण्ठित होती जा रही है। आजकी तथाकथित समताविधायक यान्त्रिक सामाजिकता मनुष्यके जीवनकी सरसताको समाप्त करती जा रही है। हम जी रहे हैं किन्तु जीवनकी सार्थकताको समझे बिना यन्त्रवत् कार्य करते हुए जी रहे हैं। इसलिए प्रत्येक स्वतन्त्रचेता कला-कारका धर्म है कि वह ऐसी कला-सृष्टि करे जो विवेक-रहित-समता एवं यान्त्रि-कताके विरुद्ध मनुष्यकी निजता, बौद्धिक स्वतन्त्रता एवं सांस्कृतिक सार्थकताकी स्थापना करे।

वर्त्तमान युगके प्रभावशाली कवि और समीक्षक श्री **टी० एस० इलियट** (T.S.Eliot, १८८८-) महोदयने कलाकी उच्चताका आधार अनुभूतिका निर्व्य-क्तीकरण (depersonalization) माना है। आपके अनुसार कलाकारका भोक्ता मन उसके स्रष्टा मनसे भिन्न है। इसलिए कला-कृति एक तटस्थ सृष्टि है। इलियट कलाकारको परम्पराके बीच रखकर देखना चाहते हैं। उन्होंने अपने विचारों से समीक्षा-जगत्को बहुत प्रभावित किया है। उन्होंने एक प्रकार-से क्लैसिकल चिन्तनको पुनः प्रतिष्ठित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शतीमें काव्य-समीक्षाका क्षेत्र व्यापक हो गया है। उसमें वैविध्य, विस्तार और गहराई सभीका समावेश लक्षित होता है। वह क्रमशः बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक होती गई है। उसके संघटनमें चिन्तनके अनेक स्तर और जीवनकी अनेक दृष्टियाँ कार्य करती हुई परिलक्षित होती हैं।

विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि ज्ञानके अनेक क्षेत्रोंसे आने वाली प्रकाश-रश्मियोंकी प्रभासे ज्योति-मण्डित होकर वह सामान्य पाठककी बौद्धिक क्षमताको चुनौती दे रही है।

सम्प्रति, अमेरिका काव्य-चिन्तनका नव्यतम केन्द्र होने जा रहा है। वहाँ एक प्रकारकी नवीन आलोचना विकसित हो रही है। नवीन आलोचनाकी मूल विशेषता यह है कि इसमें आलोचक अपनेको कविताके सूक्ष्म-विवेचनमें ही तल्लीन कर लेता है। वह कविताकी अर्थवत्ता, छन्द, बिम्ब-विधान, आलंकारिकता, प्रतीकविधान आदिके विश्लेषण एवं सौन्दर्यानुशीलनको ही महत्त्व देता है। वह काव्यको प्रभावित करने वाली अन्य ज्ञानधाराओं—समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आदिके प्रभाव-विश्लेषणको आवश्यक नहीं मानता। वह जीवनी, ऐतिहासिक परम्परा या सामाजिक पृष्ठभूमि आदिका भी आधार नहीं ग्रहण करता। वह आलोच्य कविताके मूल-पाठको ही विचारका केन्द्र मानकर चलता है। **रैंसम** (Ransom), **टेट** (Tate), **क्लियन्थ ब्रुक्स** (Cleanth Brooks), **राबर्ट पेनवारन** (Robert Penn Warren), **ब्लैकमूर** (Blackmur) और **विन्टर्स** (Winters) आदि नये आलोचकोंमें आलोचनाकी उपर्युक्त प्रवृत्ति विकसित हो रही है।[१]

---

१ "Stay with the poem and do not go out side of it" is the main tenet of the New Criticism in short hand. "It laid stress", says Beaver "on semantics, metre, imagery, metaphor and symbol, placing emphasis always on the isolated text (usually a poem) dissociated from biography or historical tradition and background, and applying extra-literary techniques whether from logic, sociology, or psychology to literature." Sensitive analysis, masterly elucidation and an almost exhaustive particularity of detail have been the marks of the best specimens of this criticism in the work of, say, Ransom and Tate, Cleanth Brooks and Robert Penn Warren, Blackmur and Winters, not to mention English critics like Leavis and Empson."

–K.R. Srinivasa Iyengar : *The Adventure of Criticism*, p. 308

उपर्युक्त विशेषताओंको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नई आलोचना, बीसवीं शतीके प्रथम तीन-चार दशकोंमें समीक्षाके क्षेत्रमें जो ज्ञानकी अनेक काव्येतर धारायें प्रविष्ट हो गई थीं, उनकी प्रतिक्रिया लेकर आई है। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि जीवनके नित्य नूतन विकासके साथ मानवकी कला-चेतना एवं सौन्दर्य-दृष्टि भी बराबर विकसित हो रही है और फलस्वरूप कला-कृतिके मूल्याङ्कनका मानदण्ड भी निरन्तर विकसित एवं परिवर्तित हो रहा है। यह शुभ लक्षण है।

अध्याय १

कला

प्रायः सभी सभ्य देशोंकी राजधानियों और बड़े शहरोंमें हम मूर्तियां, चित्रों और पुस्तकोंके संग्रह पाते हैं। यहाँ तक कि सड़कोंपर भी हम नर-नारियोंकी संगमरमर और काँसेकी ढली हुई आकृतियोंको ऊँचे चबूतरोंपर स्थापित देखते हैं जिन्हें हर आने-जाने वाला गौरसे निरखता है। हर घरमें दीवारोंपर तसवीरें लटकती रहती हैं, फूलदानोंमें पुष्पगुच्छ सजाकर रखे जाते हैं। आलमारियोंमें मनोरम अलंकरण सँजोये जाते हैं और मेजपर करीनेसे पुस्तकें लगी रहती हैं। विशाल भवनोंमें तो चित्रों, मूर्तियों और पुस्तकोंके संग्रहके लिए अलगसे बड़े-बड़े कमरोंकी व्यवस्थाकी गई होती है। इन वस्तुओंकी उपस्थिति मात्रसे यह प्रकट है कि आजके सभ्य मानवके जीवनमें कला एक अनिवार्य तत्त्व बन गई है। हम इन कलात्मक वस्तुओंका संग्रह इसीलिए करते हैं कि कुछ समय तक हमारा मन इनमें रमा रहता है और इनसे व्यंजित होनेवाली भावना हमारी वृत्तियोंका परिष्कार करती है।

कला और साहित्यके मूल्याङ्कनका प्रयत्न ही समीक्षा या आलोचना है और आलोचक वह व्यक्ति है जिसमें कलाकृतियोंके उचित मूल्याङ्कनकी योग्यता हो। इस विशिष्ट अर्थमें मूल्याङ्कनका सर्वप्रथम प्रयोग अलैक्जेण्ड्रियाकी विद्वत्-मण्डली द्वारा (३०९-१४६ ई० पू०) किया गया था। ये विद्वान् पुस्तकोंका अध्ययन पाँच शीर्षकों—वस्तु विधान, पदध्वनियोंका औचित्य-निर्णय, वाक्य-रचना, व्याख्यात्मक टीका और आलोच्य कृतिका मूल्याङ्कन—के अन्तर्गत किया करते थे। प्रारम्भमें यह मूल्याङ्कन पुस्तकोंसे ही सम्बद्ध था और आज भी जब हम समीक्षा और समीक्षकोंकी चर्चा करते हैं तो प्रायः हमारा तात्पर्य साहित्य-समीक्षा-से ही होता है। लेकिन जब हम पुस्तकोंसे इतर कलाकृतियोंकी समीक्षाकी ओर संकेत करना चाहते हैं तो हमें संदर्भके अनुकूल कला-समीक्षा या नाटकीय-समीक्षा जैसे विशेषणोंका प्रयोग करना पड़ता है। यहाँ भी हम समीक्षा शब्दका

प्रयोग मुख्यतः (आत्यन्तिक रूपसे नहीं) इसके मूल और विशिष्ट अर्थमें ही—पुस्तक-समीक्षा तथा पुस्तक-समीक्षकके अर्थमें ही—करेंगे।

जिस प्रकार नैतिकताके क्षेत्रमें कुछ ऐसे नियम हैं जो यदि समस्त विश्वमें न सही तो कमसे कम प्रायः सभी सभ्य व्यक्तियों द्वारा मान्य हैं और उनके आधारपर हम अपने आचार-व्यवहारको नियंत्रित रखते हैं उसी प्रकार समीक्षाके भी कुछ सिद्धान्त हैं जो चाहे सार्वभौम न हों किन्तु पर्याप्त व्यापक हैं और उन्हीं-के आधारपर हमारी साहित्यिक अभिरुचि परिचालित होती है। इन सिद्धान्तोंका ज्ञान, जिनसे हमें साहित्य और कला-कृतियोंके सम्बन्धमें उचित ढंगसे सोचनेकी शिक्षा मिलती है, हमें इस योग्य बनाता है कि हम इन कृतियों तथा जीवनके भौतिक तथ्यों और परिस्थितियों—जिनका कला-कृतियाँ प्रतिनिधित्व करती हैं—का पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकें, ठीक उसी प्रकार जैसे नैतिक नियम हमारे आचार-व्यवहारको नियन्त्रित करनेकी शिक्षा देकर हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम स्वयं सुखपूर्वक रह सकें और अपने पड़ोसियोंकी सुख-सुविधामें भी योग दे सकें। नैतिकता या औचित्यपूर्ण जीवन-यापनकी कलाका सम्बन्ध समूचे मानव-अस्तित्वसे है किन्तु समीक्षाका सम्बन्ध उस अस्तित्वके केवल एक अंगसे है। अतः पहली बात हमें यह सोच लेनी है कि इस अंग-विशेषकी प्रकृति और स्वरूप क्या है ? दूसरे शब्दोंमें, कला क्या है ? और इसका मानव-जीवनमें क्या महत्त्व है, इस सम्बन्धमें हमें कुछ निश्चित धारणा बना लेनी है।

ऐसा करनेके लिए सर्वप्रथम हम कुछ कलाओं और उनको उदाहृत करने वाली कलाकृतियोंका अनुचिन्तन करेंगे और उसके आधारपर एक सामान्य धारणा बनानेकी चेष्टा करेंगे। सबसे पहले हम उस वैशिष्ट्यसे परिचित होते हैं जो कलाकृतियोंके दो भेद कर देता है—ललित कला और यान्त्रिक कला। मूर्ति, चित्र, संगीत, और काव्य-कलायें ललित-कलाओंके अन्तर्गत आती हैं।[१] सोनार, बढ़ई, राजगीर, कुम्हार, बुनकर, शीशेका काम करने वाले, भित्तिचित्र बनाने वाले तथा इसी प्रकारके अन्य अनेक कारीगरोंकी कलायें निम्नस्तरीय या यान्त्रिक कलायें हैं। ललित कलाये मानव-मनको द्रवित करके उसका आनन्दवर्द्धन करती हैं। यान्त्रिक या निम्नस्तरीय कलायें उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति

---

१. इन्हींके अन्तर्गत हम अभिनय, भाषण और नृत्य-कलाओंको भी रख सकते हैं।

करती हैं। इसी आधारपर कलाओंका यह वर्गीकरण किया गया है। दोनों प्रकारकी कलायें मानवके विकासकी समान रूपसे साक्षी हैं। ललित कलाएँ उसके नैतिक और मानसिक विकासकी सूचक हैं और निम्नस्तरीय कलाएँ भौतिक सुख-सुविधाओंके सम्वर्द्धनकी सूचना देती हैं। कुछ कलाएँ जैसे काष्ठ-खण्ड या ताम्र-पत्रपर नक्काशी करना, चीनी-मिट्टी या शीशेपर रंगीन चित्र बनाना, दीवालोंको सजानेके लिए तरह-तरहकी डिजाइनें तैयार करना या बुनाईके नमूने बनना आदि, कलाकारकी कला-निपुणता-प्रदर्शनके आधारपर उभय वर्गोंमें सम्मिलितकी जा सकती हैं।

निम्नस्तरीय कलाओंका उद्भव और उद्देश्य स्पष्ट है और उसे आसानीसे समझा जा सकता है। मनुष्यमें भोजन, वस्त्र, निवास, यातायातके साधन आदि प्रारम्भिक सुविधाओंकी सहज पूर्तिकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती आई है और इसीके परिणामस्वरूप इन कलाओंका उद्‌भव और विकास हुआ है। इनका उद्देश्य और इनके अस्तित्वका आधार उपादेयता है। उपादेयता ही इनकी कलात्मक उच्चताकी कसौटी है। इनके सम्बन्धमें यह उपादेयताका सिद्धान्त इतनी दूरतक सही है कि प्रायः इन कलाओंको 'उपयोगी' कलायें कहते हैं। घर, कुर्सी, धातु या मिट्टीके बर्त्तनकी मूलभूत योग्यता उस उद्देश्यकी पूर्ति है जिसके लिए ये बनाए जाते हैं और इनमें रूपगत सौन्दर्य उतना ही अपेक्षित है जितना इस योग्यताको बनाये रख सकनेके लिए नितान्त आवश्यक है। इस प्रकारकी वस्तुयें अपने उपयोगी अस्तित्वके कारण ही मन और नेत्रोंको तुष्ट करती हैं और वह सारी सजावट जो इनकी उपयोगिताकी वृद्धिमें सहायक नहीं होती, व्यर्थ होनेके कारण, इनके सौन्दर्यको बढ़ानेके बजाय घटा देती है।

इसलिए निम्नस्तरीय कलाओंके विषयमें हमें कुछ अधिक नहीं कहना है लेकिन ललित कलाओंके विषयमें विस्तारपूर्वक विचार करना है क्योंकि इनका स्वरूप बहुत ही जटिल है और आजतक आलोचक वर्ग इनके उद्‌भव, विकास और उद्देश्यके सम्बन्धमें कोई एक निश्चित मत नहीं बना सका है। काव्य-कलाके सम्बन्धमें इस मत-वैभिन्न्य और उसके महत्त्वपर हम आगे चलकर साहित्यिक मूल्योंकी चर्चा करते समय विचार करेंगे। प्रस्तुत प्रसंगमें कलाओं

या कलापर विचार करते समय हम अपनेको केवल ललित कलाओं या ललित-कला तक ही सीमित रखेंगे।

कलाओंके वर्गीकरणके दो सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त उन्हें दृश्य-कला और श्रव्य-कलाके रूपमें विभाजित करता है। जिन कलाओंका सौन्दर्य नेत्रोंके माध्यमसे मन तक पहुँचता है उन्हें दृश्य-कला और जिनका कानोंके माध्यमसे मन तक पहुँचता है उन्हें श्रव्य-कला कहते हैं। इस दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर हम संगीत और काव्य-कलाकी तुलनामें वास्तु, मूर्ति और चित्र कलाको नितान्त भिन्न पाते हैं। दूसरा सिद्धान्त कला-कृतियोंके निर्माणमें प्रयुक्त होनेवाले उपकरणोंकी स्थूलता और सूक्ष्मताके आधारपर उनका वर्गीकरण करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार हीगेल[1] (Hegel) काव्य-कलाको उच्चतम और वास्तु-कलाको निम्नतम स्थान प्रदान करता है। वास्तु-कलाको निम्नतम स्थान प्रदान करनेका कारण यह है कि इसे रूपायित करनेमें स्थूल उपादानोंका प्राधान्य होता है। और वस्तुतः उपयोगी होनेके कारण ही प्रस्तर-खण्डों और ईंटोंके समूहसे निर्मित भवनोंको कलाकृति होनेका गौरव प्राप्त होता है। मूर्तिकलाका स्थान वास्तु-कलासे उच्च है। इसमें भी प्रधानता स्थूल सामग्रीकी ही होती है किन्तु मूर्तिकार संगमरमर या अन्य धातुओं, जिस किसीको भी वह मूर्ताधारके रूपमें प्रयुक्त करता है, ऐसे मूल्यसे युक्त कर देता है जो उसमें अन्तर्निहित नहीं होता। वह अपने कौशलसे ठोस जड़-पदार्थोंको भव्यरूप प्रदान करके जीवित-सा कर देता है। चित्रकला मूर्तिकलासे भी श्रेष्ठ है क्योंकि इसे रूपायित करनेवाला आधार अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। चित्राङ्कनमें केवल फलककी आवश्यकता होती है जिसमें मात्र लम्बाई-चौड़ाई होती है। मोटाई (third dimension) नहीं होती। लेकिन चित्रकार फलकपर ही ठोस पदार्थोंकी आकृतियाँ भी अंकित कर देता है जो रूप, रंग, आकार आदि सभी कुछ बिम्बित करती हैं। उच्चताके

---

१. हीगेल (Hegel, George Wilhelm Friedrich, १७७०-१८३१ ई०) जर्मनीके स्टाटगार्ट शहरमें पैदा हुआ था। प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति 'फेनामेनोलॉजी ऑव स्पिरिट' प्रकाशित हुई थी। इसके बाद 'लॉजिक' और 'फिलासफी ऑव राइट' नामक प्रसिद्ध कृतियां प्रकाशित हुई थीं। बहुत दिनतक बर्लिन और हेडेलबर्ग विश्वविद्यालयोंमें दर्शन-शास्त्रके प्रोफेसर पदपर अधिष्ठित रह चुका था।—अनु०

क्रममें चित्रकलाके बाद संगीत-कलाका स्थान है, जिसमें ध्वनि ही एकमात्र स्थूल आधार है। संगीतज्ञ ध्वनियोंको इस ढंगसे नियमित करता है कि वे भावनाओंकी अभिव्यक्तिमें समर्थ हो जाती हैं यहाँतक कि वे श्रोताओंके मनमें उन भावनाओंको जागृत भी कर देती हैं। इस क्रममें काव्य-कला का स्थान उच्चतम है। इसमें शब्द और पद-प्रतीक ही भावनाओं और विचारोंकी अभिव्यक्तिके माध्यम होते हैं। इसका स्थूल आधार (यदि छन्द-विधानको छोड़ दिया जाय) लगभग कुछ नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके वर्गीकरण कलाओंको समझनेमें हमारी सहायता करते हैं। इनके आधार पर कलाओंके सम्बन्धमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला यह कि कला रूपायित होनेके लिए स्थूल आधारकी अपेक्षा करती है। वास्तु-कलाके ईंटों और प्रस्तर-खण्डोंसे लेकर काव्यकलाके शब्द-प्रतीकों तक सर्वत्र यह आधार देखा जा सकता है। दूसरा यह कि नेत्र और श्रवण इन्हीं दो इन्द्रियोंके माध्यमसे वह अपना प्रभाव मन तक पहुँचाती है। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि रूपायित करनेवाले प्रतीक और प्रभाव ग्रहण करनेवाले नेत्र और श्रवणेन्द्रियाँ ये दोनों ही ऐसे साधन हैं जिनके माध्यमसे कलाकार दर्शक और श्रोता से अपना मानसिक तादात्म्य स्थापित करता है। (अपनी मानसिक अनुभूतियोंको उन तक पहुँचाता है।) अतः यह कहा जा सकता है कि सभी कलाकृतियाँ—भवनसे लेकर प्रगीत मुक्तक तक—प्रतीकात्मक है। तात्पर्य यह कि कलाकृतियों में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जा सकने योग्य गुणोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे गुण भी होते हैं जो मनको प्रभावित करनेकी शक्ति रखते हैं और मन द्वारा ही ग्रहीत भी होते हैं। अब, इतनी चर्चा करनेके बाद हम लोग इन तथ्योंके आधार पर कलाके सम्बन्धमें एक निश्चित धारणा बना सकते हैं और 'कला' को पारिभाषित करनेकी चेष्टा कर सकते हैं। **'कला, यथार्थताके मनोगत रूपकी अभिव्यक्ति है'**। इस परिभाषाको ठीक ढंगसे समझनेके लिए हम प्रत्येक कलाके सम्बन्धमें अलग-अलग तीन बातों पर विचार करेंगे। (१) उसका स्थूल आधार, (२) वह साधन जिससे कला-विशेष स्थूल आधारको इन्द्रियग्राह्य बनाती है और (३) कलात्मक संवेदनके रूपमें मन तक सम्प्रेषित यथार्थताके मनोगत रूपका महत्त्व।

वास्तुकलामें प्रयुक्त होनेवाली सामग्री स्थूलतम होती है। इसमें पत्थर, ईंट, लोहा, लकड़ी तथा इसी प्रकारके अन्य पदार्थ आते हैं जिनका प्रयोग इमारतोंके निर्माणमें किया जाता है। वास्तुकलाको रूपायित करनेका यह माध्यम पूर्णतः वस्तुगत और स्थूल है, इसलिए शिल्पी द्वारा निर्मित कलाकृतिका नेत्रों पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा किसी भी स्थूल वस्तु का। शिल्पीको धूप, प्रकाश और छाया, रंग, वातावरण, दृश्य और परिवेश आदि सब कुछ अपने वास्तविक रूपमें उपलब्ध होता है। उसे कलाकृतिका प्रभाव नेत्रोंके माध्यमसे मन तक पहुँचानेमें किसी कौशलकी आवश्यकता नहीं होती। ऐसा दो कारणो से होता है। पहली बात तो यह है कि वह (शिल्पी) चेतना या गतिकी अभिव्यक्ति नहीं करता। दूसरे, उसकी कलाकृति रूप-रंग, आकार-प्रकारकी वही विशेषतायें रखती हैं जो अन्य किसी निर्जीव ठोस जड़-पदार्थमें होती हैं। यह होने पर भी जिन बाह्य आकृतियोंको वह निर्मित करता है, वे वास्तविक होने पर भी, एक प्रकारकी मानसिक अभिव्यक्तियाँ ही हैं। दूसरे शब्दोंमें उनसे भी भावनाकी अभिव्यक्ति होती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण गाथका गिरजाघर है। यह गिरजाघर उपासनाका स्थान ही नहीं उपासना की वस्तु भी है। यह इस ढंगसे निर्मित है कि इसके आकार-प्रकार से मनुष्यकी अनश्वर और नित्य जीवन व्यतीत करनेकी आकांक्षा व्यक्त होती है। इसकी विशाल छतको धारण करनेवाले ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों, इसके गगन-भेदी शिखरों और इसकी बहुसंख्यक बुर्जियोंमें अनश्वरताकी भावना सन्निहित है। किन्तु, यद्यपि इस स्थितिमें वास्तु-कलाकृति पूजाके स्थानकी मनोगत अभिव्यक्ति है या यों कहिए कि शिल्पी द्वारा निर्मित गिरजाघर उसकी भावनामें मूर्त ईसाई-उपासना-गृहकी बाह्य अभिव्यक्ति है, फिर भी इसमें बाह्य और स्थूल सामग्री का इतना प्राधान्य है कि दर्शक उसके द्वारा व्यक्त धार्मिक भावना तक पहुँचने पर भी केवल भवनको देखकर ही प्रभावित और उल्लसित हो सकता है।

मूर्ति-कलाका स्थूल आधार पत्थर या धातु है जिसे विविध प्रकारसे तराश कर किन्हीं सजीव या निर्जीव पदार्थोंका रूप प्रदान किया जाता है। मूर्तिकारको गति और चेतनाके अतिरिक्त अन्य सभी यथार्थ उपकरण उपलब्ध होते है क्योंकि उसके द्वारा निर्मित कलाकृतिमें घनत्व, आकार-प्रकार, रंग आदि सब

उसी प्रकारका होता है जैसा उस यथार्थ व्यक्ति या वस्तु का होता है जिसे वह मूर्त करता है। इसलिए जब कभी वह चेतन और गतिशील व्यक्तियोंको मूर्त करता है, उसे दर्शकोंके नेत्रोंको अभिभूत करनेके लिए विशेष कौशलकी आवश्यकता पड़ती है। मूर्तिकलामें गति और चेतनाके तत्त्वका अभाव मूर्तिकार-की अभिव्यक्ति-क्षमताको सीमित कर देता है और वह स्थूल वास्तविकताको भी, जिसे व्यक्त करनेके लिए वह पूर्णतः स्वतन्त्र है, भली प्रकार रूपायित नहीं कर पाता। इस असमर्थताके कारण ही मूर्तिकलाके लिए सबसे उपयुक्त और विशिष्ट विषय एकाकी आकृतियाँ या एकाकी नराकृतियोंके मात्र ऊपरी अर्द्धांग या आकृतियोंके छोटे-छोटे समूह होते हैं। इन आकृतियोंको वह कमसे कम बाह्य अलंकरणोंसे युक्त कर पाता है। इसी कारण और इसलिए भी कि पत्थर या धातुओं जैसे कठोर माध्यमोंसे निर्मित होनेवाली मूर्तियोंमें वस्त्रादिके आवरण रूपायित करना बहुत कठिन है, सुन्दरतम मानव-मूर्तियाँ प्रायः अंशतः या पूर्णतः नग्न बनाई जाती हैं। जो भी हो, वास्तुकलाकी तुलनामें मूर्तिकलामें वास्तविकता की मनोगत स्थितिका अधिक प्राधान्य होता है, क्योंकि मूर्तिकार पत्थर या धातुमें जीवनकी चेतना भर देता है और जिस किसी जातिके प्राणीको वह मूर्त करता है उसकी भावनाको पूर्णताकी चरम सीमा तक पहुँचा देता है। अतः बाह्य सौन्दर्य मूर्तिकला का विशिष्ट अंग है।

चित्रकलाका स्थूल आधार वह चित्र-पट या चित्रपट्ट या धरातल है जिसपर आकृति सूचक रेखायें अंकितकी जाती हैं और वस्तुओंके प्राकृतिक रंगकी अनु-कृति प्रस्तुत करने वाले कृत्रिम रंग भरे जाते हैं। मूर्तिकारकी सापेक्षितामें चित्र-कारका मूर्ताधार अधिक सूक्ष्म होता है। रंगों और रेखाओंकी सहायतासे अंकित चित्रको नेत्र-ग्राह्य बनानेमें उसे अधिक कौशलकी आवश्यकता होती है क्योंकि उसे ठोस पदार्थों और प्राकृतिक रंगोंको व्यक्त करना होता है जबकि उसका चित्रपट मात्र चौड़ा होता है और साधन रूपमें वह मात्र रेखाओं और रंगोंका प्रयोग कर सकता है। ठोस वस्तुओंको मात्र रेखाओंकी सहायतासे रूपायित करते समय कलाकारके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह दृश्य-चित्रणकी विशिष्ट-विधिका अनुसरण करते हुए रेखांकन करे। अर्थात् उसे चाहिए कि वह अपने चित्रपटपर अंकित होने वाली वस्तुओंको ठीक उसी

स्थितिमें उपस्थित करे जो स्थिति उन्हें किसी विशिष्ट दृष्टि-बिन्दुसे देखने वाले दर्शकके दृष्टि-पथमें प्राप्त होती है। इसी प्रकार दर्शकसे कम या अधिक दूरी पर स्थित वस्तुओंके वास्तविक रंगोंकी प्रतीति अपने बनावटी रंगोंकी सहायतासे करानेके लिए उसे हर वस्तुके रंगको पृथक् समुचित महत्त्व देना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार देखने वालेको अपनेसे कम या अधिक दूरीपर स्थित वस्तुओंके रंग कम या अधिक चटकीले प्रतीत होते हैं उसी प्रकार चित्रमें भी उसे उन वस्तुओंको सापेक्षिक रूपमें हलका, गहरा या चटकीला दिखाना चाहिए। इस प्रकार दृश्य-चित्रण-विधिके अनुसार रेखांकन करके और रंगोंके हल्के और गहरे उभारको उचित महत्त्व देकर चित्रकार चौड़े चित्र-पटपर ही खुले हुए विस्तृत मैदान या भीतरी भाग, जिस किसीका भी वह चाहे, प्रतीति करा सकता है। इसके अति-रिक्त, चित्रकलामें मूर्तिकलाकी अपेक्षा मनोगत अंश (mental aspect) अधिक होता है। वास्तुकलाकी तुलनामें तो यह बहुत ही अधिक होता है। क्योंकि, चाहे किसी ऐतिहासिक घटनाका चित्रण हो चाहे खुले हुए विस्तृत मैदानका, चित्रमे चित्रकारकी भावना ही उभर कर सामने आती है। वहाँ न तो हम ऐतिहासिक घटनाका प्रत्येक ज्ञात ब्यौरा ही देखते हैं न खुले हुए मैदान-का यथार्थ वस्तुचित्र ही। दूसरे शब्दोंमें, चित्रकार यथार्थको चित्रगत करते समय उसका आदर्शीकरण कर देता है वह कोरा अनुकरण नहीं करता वरन् व्याख्या और चयन भी करता है। अन्य कलाकारोंकी भाँति वह भी वास्त-विकताको उसके मनोगत रूपमें प्रस्तुत करता है। वह अपनी कला-वस्तुको इन्द्रिय-ग्राह्य ही नहीं मनोग्राह्य भी बनाता है।

अब तक हम लोग उन कलाओंके सम्बन्धमें विचार करते रहे है जो नेत्रोंके माध्यमसे अपनी संवेदना मनतक पहुँचाती हैं। अब हम श्रवण-संवेद्य कलाओं—सगीत और काव्य पर विचार करेंगे। इन दोनोंमें अभिव्यक्तिका स्थूल आधार गौण होता है और क्रमशः मनोगत तत्त्व प्रधान होता जाता है।

संगीतज्ञ मात्र नादको मूर्ताधार बनाता है। यह नाद या तो मानवकी स्वरयन्त्रियोंसे उत्पन्न किया जाता है या उन वाद्य-यन्त्रोंमेसे किसीसे जो सदियों पूर्व आविष्कृत होकर पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं। संगीतज्ञ कभी तो मात्र नादका आधार लेता है और कभी उसे शब्दोंके साथ सार्थक बनाकर प्रस्तुत करता है।

यह नाद संगीतके सिद्धान्तोंके अनुसार मात्रा और यति लगाकर नियमित किया गया होता है ताकि इससे सामंजस्यमय वातावरणका निर्माण हो सके। यद्यपि सार्थक शब्दोंका प्रयोग करके संगीतज्ञ काव्य-कलाकी भी सहायता ले लेता है किन्तु उसकी अभिव्यक्तिका निजी और विशिष्ट माध्यम मात्र अर्थहीन नाद है। भावनाओंकी अभिव्यक्तिके इस माध्यमकी प्रकट विशेषता इसकी आत्यन्तिक असीमता और अस्पष्टता है। माध्यमकी असीमता और अस्पष्टताके कारण ही संगीत-कला व्यापक रूपसे प्रभाव डालनेमें—विश्व-मानवकी आत्माको प्रभावित करनेमें—समर्थ है। यही कारण है कि संगीत-कला बालकसे लेकर वृद्ध तथा जंगली, विद्वान् और सभ्य सभी अवस्था और स्तरके व्यक्तियोंको समान रूपसे प्रभावित करती है। संगीतकार संगीत-कलाकी विधियों और प्रयोगोंके अतिरिक्त, कानोंके माध्यमसे मनको प्रभावित करनेके लिए, विशेष कौशलका भी प्रयोग करता है। वह अपनी कलाकी सीमाओंमें यथार्थ स्थितियोंको भी व्यक्त कर सकता है। उसकी कलागत सीमाओंको समझनेके लिए एक उदाहरण लेना उपयोगी होगा। यह उदाहृत प्रसंग फ्रेंच आलोचक विक्टर कजिन (Victor Cousin)का कहा हुआ है कि किस प्रकार हेडन[1] (Haydn) नामक एक संगीतकारने अपनी कलागत सीमाओंके बावजूद इसे प्रस्तुत करके उसे प्रभावित किया था। इसमें पंचभूतोंके संघर्षको संगीतके माध्यमसे मूर्त किया गया है।

'बड़े से बड़े स्वर-साधकको तूफानका दृश्य मूर्त करनेको कहिए। हवाकी सुसकारी और बिजलीकी कड़कका अनुकरण तो आसान है किन्तु रात्रिके अन्धकारको चीर कर सहसा कौंध जानेवाली बिजलीकी प्रकाश-रेखाको कैसे मूर्त किया जाय? और समुद्रकी कभी पर्वताकार उठने वाली और कभी उसकी अतल गहराईमें डूब जाने वाली तरंगोंको, जो तूफानका सबसे भयंकर अंग है, कैसे प्रत्यक्ष किया जाय? संगीतकी नियमित ध्वनियोंको किस प्रकार संघटित किया जाय कि ये दृश्य प्रत्यक्ष हों? यदि श्रोताओंको पहले से ही मूर्त होने वाले दृश्यकी सूचना नहीं दे दी गई है तो वे उसका ठीक अनुमान नहीं कर सकते। मै चुनौतीके स्वरमें कहता हूँ कि कोई भी श्रोता तूफान और युद्धके नाद-चित्रमें

---

१. हेडन (Haydn, Franz Josef, १७३२-१८०९) आस्ट्रियामें उत्पन्न हुआ था। इसे आधुनिक वाद्य-संगीतका जनक माना जाता है। कई बार इंगलैण्ड आया था और ऑक्सफोर्डसे सम्मानित उपाधि प्राप्तकी थी

अन्तर नहीं कर सकता। वैज्ञानिक प्रयोगों और प्रखर बुद्धि-कौशलके बावजूद ध्वनिके माध्यमसे रूपों और आकृतियोंकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। संगीत-कला इस क्षेत्रमें निष्फल प्रतिद्वन्द्वितामें नहीं पड़ना चाहती। वह लहरोंका उत्थान पतन या इसी प्रकारकी अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओंको मूर्त नहीं कर सकती। तूफानके दौरमें गुजरने वाली विविध स्थितियोंके चित्रोंको देखकरहममें क्रमशः जो भावनाएँ उदय होंगी, यह ध्वनियोंकी सहायतासे उन्हें हमारे अंतस्में सरलतासे उत्पन्न कर सकती है। इसी प्रकार हेडन (Haydn) चित्रकारकी प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है या उसपर विजय प्राप्त कर सकता है क्योंकि संगीत-कला चित्रकलाकी तुलनामें आत्माको प्रभावित और द्रवीभूत करनेकी अधिकक्षमता रखती है।[१]

काव्य-कलाके सम्बन्धमें यहाँ हम उतनी ही बातें कहेंगे जितनी प्रस्तुत प्रसंग-को पूर्ण करनेके लिए आवश्यक है। क्योंकि आगे चलकर इस विशिष्ट कलाके सम्बन्धमें किसी न किसी अध्यायमें विस्तृत विचारका अवसर मिलेगा। काव्य-कला अन्य सभी कलाओंकी तुलनामें सबसे कम स्थूल आधारकी अपेक्षा करती है। यदि हम काव्य-कलामें प्रयुक्त होने वाले छन्द, अनुप्रास, तुक आदिकी संगीतात्मकताको अलग कर दें तो यह नेत्रों और कानोंके सम्मुख केवल शब्द-प्रतीकोंको ही उपस्थित करती है और इन्हींके माध्यमसे अपनी संवेदना मनमें जगाना चाहती है। मनको प्रभावित करनेके लिए इन प्रतीकोंको उपस्थित करते समय यह किसी प्रकार के कौशलसे काम नहीं लेती क्योंकि शब्द स्वभावतः नेत्रों या कानों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु इन शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे भावनाओं या कल्पना-चित्रोंके रूपमें यथार्थ जीवन या बाह्य प्रकृतिके जो स्थूल चित्र बिम्बित या मूर्त होते हैं वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। कविता सीधे मनको प्रभावित करती है क्योंकि मनोभावना या कल्पना-चित्र कविके लिए स्थूल आधारका काम देते हैं और भावना या कल्पनाको मूर्त करनेके लिए भाषासे अधिक शक्तिशाली और कोई माध्यम नहीं है। जीवनकी वास्तविकताको व्यक्त करनेमें कवि अपनी कलागत सीमाओंके कारण विवश है। उसकी कला यथार्थ चित्रोंको उनके मनोगत रूपमें ही व्यक्त कर सकती है।

---

१ *Du Vrai, du Beau et du Bien*: Lecon IX. 195-7 (27th ed.)

परिशिष्ट

कला

भारतीय दृष्टिकोण

भारतवर्षकी सांस्कृतिक परम्परा सारे संसारमें प्राचीनतम मानी जा सकती है। सिन्धु-घाटी सभ्यता (३००० वर्ष ईसा पूर्व)के समयसे ही भारतीय कलात्मक दृष्टिकी श्रेष्ठताकी सूचना प्रामाणिक रूपसे मिलने लगती है। भारतीय वाङ्मय में ऐसी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें कलाओंका विशद् विवेचन हुआ है। 'ललितविस्तर', 'कामसूत्र', 'शुक्रनीतिसार', 'प्रबन्धकोष', 'कलाविलास' (क्षेमेन्द्र पण्डितकृत) आदि अनेक ग्रन्थोंमें कलाओंके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया गया है। कामसूत्रमें ६४ कलाओंका उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थोंमें व्यक्त कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण कला-सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओंसे भिन्न है। भारतीय विचारकोंके अनुसार कलाका सम्बन्ध कौशल, रचना-निपुणता या उक्ति-वक्रतासे ही है। 'ललितविस्तर'में 'लिपि-कौशल', 'काव्य व्याकरणम्' (काव्यकी व्याख्या), 'ग्रन्थ-रचितम्' (लेखन-निपुणता), 'गीत-पठितम्' (संगीतके नियमोंके अनुसार काव्य या पद-पाठ) और 'क्रिया-कल्प' (काव्यालंकार) आदिको ही कलाओंमें समाविष्ट किया गया है। वात्स्यायनके कामसूत्रमें भी काव्यसे सम्बन्धित उन्हीं क्रियाओंको 'कला'के अन्तर्गत रखा गया है जिनमें कौशलका तत्त्व प्रधान होता है। उदाहरणार्थ 'प्रहेलिका', 'प्रतिमाला' (अंत्याक्षरी), 'दुर्वाचकयोग' (कठिन पदोंसे युक्त पद-रचना करना)', 'पुस्तकवाचन', और 'समस्यापूर्ति'को ही कामशास्त्रमें कलाओंकी सीमामें परिगणित किया गया है। भामहने भी 'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला। जायते यन्न काव्यांगमहो भारः महान् कवेः' कहकर कलाको काव्यका पोषक ही माना है। उसका समानार्थी नहीं। वस्तुतः भारतीय दृष्टिमें 'कला', अभ्यास-साध्य है और काव्य-प्रतिभा सहज एवं जन्मजात मानी गई है। अभ्याससे हम कौशल, चतुरता, वक्रता, निपुणता आदि प्राप्त कर

सकते है, अनुभूत नहा इस दृष्टिसे हम काव्यको कला नहीं मान सकते। कलाको काव्यका एक पक्ष कह सकते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने भी पर्याप्त विचार-विश्लेषणके बाद निष्कर्ष रूपमें यही कहा है—'मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला, जो कवियोंकी गोष्ठियों, समाजों और राजसभाओंमें तत्काल सम्मान देती थी, वह उक्ति-वैचित्र्यमात्र थी'। (अशोकके फूल, पृष्ठ ११६) शैव दर्शनमें 'कला' को ईश्वरकी कर्तृत्व शक्तिके रूपमें देखा गया है। 'शिव-सूत्र-विमर्शिनी'में क्षेमराजने 'कला'के सम्बन्धमें लिखा है—'कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कलाव्यापारः' (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४३ पर उद्धृत) स्व को कलन करनेका तात्पर्य आत्मानुभूति को व्यंजित करना है। इस अर्थमें 'कला' पाश्चात्य दृष्टिकोणके समीप पहुँच जाती है। इसी अर्थको ग्रहण करते हुए डॉ० कान्तिचन्द पाण्डेयने 'कला'के सम्बन्धमें लिखा है कि 'यह मानवकी वह क्रिया-शक्ति है जिसकी प्रमुख विशेषता देखना, गणना करना, सोचना और व्यक्त करना है।'

"Thus, Kala (Art) means that human activity, the characteristic features of which are observation, calculation, contemplation and clear expression."

—*Comparative Asthetics, Vol. II,* p. 512

यह अर्थ-ग्रहण करनेके लिए डॉ० पाण्डेयने 'कला'का व्युत्पत्तिगत अर्थ लिया है। उनके अनुसार 'कला' शब्द 'कल्' धातुसे व्युत्पन्न है जिसका अर्थ संख्यान (गणना, माप, देखना, व्यक्त करना) होता है। 'कला' शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ कुछ भी हो और शैव दर्शनमें उसे चाहे जिस अर्थमें ग्रहण किया गया हो यह निर्विवाद है कि सामान्यतः उसे कौशलके अर्थमें ही लिया गया है। काव्य, भारतीय परम्परामें, 'कला'से ऊँचे स्थानका अधिकारी रहा है। शास्त्रोंमें 'कला' उपविद्याके रूपमें मानी गई है और काव्य विद्या रूपमें।

आधुनिक युगमें पाश्चात्य प्रभावके कारण विद्वानोंके कला-सम्बन्धी दृष्टिकोणमें परिवर्तन हुआ है। कलाको काव्यके समकक्ष मान लिया गया है और काव्यकी गणना भी कलाओंमें की जाने लगी है। 'रवीन्द्र', 'प्रसाद', 'पन्त', 'महादेवी' आदि सभी कवियोंने काव्य और कलामें परम्परागत पार्थक्य अस्वी-

कार कर दिया है। हिन्दीके आलोचकोंमें एकमात्र आचार्य शुक्लने काव्यको कलाकी सीमामें स्थान नहीं दिया है। उनको भय था कि काव्यको कला मान लेने पर उसके स्वरूपके सम्बन्धमें बेलबूटे और नक़्काशीवाली हल्की धारणा बँध जायगी (काव्यमें अभिव्यंजनावाद, 'चिन्तामणि' भाग २, पृष्ठ १८०)। यह होने पर भी 'कविता क्या है', शीर्षक निबन्धमें वे यह स्वीकार करते हैं कि 'काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त-विधान के लिए कविता चित्रविद्याकी प्रणालीका अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठवके लिए वह संगीतका कुछ सहारा लेती है' ('चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ १७९)। तात्पर्य यह कि आधुनिक भारतीय विचारक और कवि काव्य और कलाको समानधर्मी मानते हैं और काव्यकी गणना कलाके अन्तर्गत करने लगे हैं। डॉ० हरद्वारी-लाल शर्माने ठीक ही कहा है—'क्या कोई कविता सम्भव है जिसने कलाकी रूप-सम्पदा और सन्तुलन, लय आदिको छोड़कर स्वरूप ग्रहण किया हो? अतएव काव्य और कला दोनों पर साथ ही विचार करना आवश्यक होता है'। (काव्य और कला, हरद्वारीलाल शर्मा, भूमिका) श्री काका कालेलकर महोदयने भी स्वीकार किया है कि 'साहित्य संगीत और कला, तीनों एक दूसरेके परम मित्र हैं, तीनों एक ही परिवारके हैं'। (कला—एक जीवनदर्शन, पृ० ७) कला सम्बन्धी वर्त्तमान दृष्टिकोणका उल्लेख करते हुए आप कहते हैं—'आज-कल ललित साहित्य ही कलाका मुख्य अंग बन गया है। नाटक, काव्य, कहा-नियाँ, सरस शैलीमें लिखे हुए निबन्ध, ये सभी कला-कृति माने जाने लगे है और पुस्तक-लेखक ही अब प्रधान कलाकार गिने जाते हैं। (कला—एक जीवन दर्शन, काकाकालेलकर, पृष्ठ १३)

कलाओंके वर्गीकरणके सम्बन्धमें भारतीय विचारक अधिक सतर्क नहीं प्रतीत होते। पंचाल (जो वात्स्यायन मुनिसे बहुत पहले हुए थे और जिन्होंने १५० अध्यायोंमे कामशास्त्रकी रचनाकी थी) ने कलाओंको 'मूल' और 'अन्तर' इन दो वर्गोंमें रखा है। उनके अनुसार मूल कलायें ६४ हैं और अन्तर-कलायें ५१८ हैं।

भरतमुनिने नाट्यकलाको प्रधान और अन्य कलाओंको अप्रधान माना है। इस तरह देखा जाय तो उन्होंने भी कलाओंके 'प्रधान' और 'गौण' दो

भेद कर दिए हैं। पाश्चात्य विचारक हीगेलने कलाओंके वर्गीकरणमें अधिक सावधानीसे काम लिया है। उन्होंने कलाओंका वर्गीकरण तीन दृष्टियोंसे किया है—'विषयवस्तु', 'मूर्ताधार' तथा 'वस्तु और शिल्पका परस्पर सम्बन्ध'। 'वस्तु'की दृष्टिसे उसने कलाको **'व्यक्तिनिष्ठ'** (subjective), **'वस्तुनिष्ठ'** (objective) और **'निरपेक्ष'** (absolute) इन तीन वर्गोंमें बाँटा है। मूर्ताधार (material medium) को दृष्टिमें रखकर उसने कलाको **सूक्ष्म** और स्थूल इन दो वर्गोंमें रखा है। इस प्रकार वास्तु, मूर्ति और चित्र कलायें अपेक्षाकृत स्थूल हुई और संगीत तथा काव्य-कला सूक्ष्म मानी गई। वस्तु और शिल्पके सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर उसने कलाको तीन वर्गोंमें रखा है—**प्रतीकात्मक** (symbolic), **क्लैसिकल** (classical) और **रोमैंटिक** (romantic)। उसकी दृष्टिमें वास्तुकला प्रतीकात्मक है। मूर्तिकला क्लैसिकल है तथा चित्र, संगीत और काव्य ये तीन कलायें रोमैंटिक हैं। इसी संदर्भमें उसने कलाओंको उनकी सापेक्षिक उपयोगिताकी दृष्टिसे भी वर्गीकृत किया है। इस दृष्टिसे **यान्त्रिक** (mechanical) कलायें—बढ़ई, सुनार, लोहार आदिकी कलाएँ उपयोगी होती हैं और **ललित कलायें** (aesthetical) उपयोगिताके सामान्य स्तरसे ऊँची होती हैं। हीगेलका यह वर्गीकरण बहुत ही लोकप्रिय है। हिन्दीके आधुनिक कवियोंमें प्रसाद और महादेवी ने हीगेल के मतको अस्वीकार कर दिया है। 'प्रसाद' काव्य-कलाको अमूर्त कला नहीं मानते। भारतीय तन्त्रशास्त्र के अनुसार 'अ' से लेकर 'ह' तक ही वर्णमाला 'अहं' को व्यक्त करती है और मनुष्य की समस्त अनुभूतियाँ और समस्त ज्ञान अहंके—आत्माके हैं (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३३)। इस प्रकार साहित्य-कला अपनी वर्ण-मालाओंके द्वारा प्रत्यक्ष मूर्तमती है। महादेवीने हीगेलका खण्डन उपयोगिताके प्रश्नको लेकर किया है। वे कहती हैं—'उपयोगकी कला और सौन्दर्यकी कलाको लेकर बहुतसे विवाद सम्भव होते रहे परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरेसे बहुत दूरीपर नहीं ठहरते' (महादेवीका विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ९)। अपने कथनको पुष्ट करते हुए वे सैनिकका उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। युद्ध-यात्राके लिए सन्नद्ध सैनिकके लिए जितनी उपयोगिता भोजन, आच्छादन और अस्त्र-शस्त्रकी है उतनी ही उसके मनोबलको दृढ़ रखनेके लिए अडिग साहस और विश्वासकी

भावना की भी है। इसलिए उपयोगी और ललित कलाओंमें उपयोगके स्तरपर भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है। कुछ विचारकोंने कलाओंको दो वर्गोंमें रखा है—**सहज** या **स्वाभाविक** (natural art) तथा **अभ्यास प्राप्त** (acquired by practice)। इसी प्रकार बंगालके एक विद्वान् श्री वीरेश्वर सेनने **संस्कृत कला और प्राकृत कला**, कलाओंके ये दो भेद किये हैं। बँगलाके ही एक दूसरे आलोचक श्री नलिनी कान्त गुप्तने वर्ण-व्यवस्थाके क्रमसे ही कलाओंका भी वर्गीकरण किया है। वे काव्यको **ब्राह्मण**, स्थापत्यको **क्षत्रिय**, चित्रको **वैश्य** तथा संगीतको शूद्र कला मानते हैं ('कला', हंसकुमार तिवारी, पृष्ठ ६४)। काका कालेलकरने कलाओंका वर्गीकरण **'परस्मैपदी'** और **'आत्मनेपदी'** में किया है। आपकी सम्मतिमें परस्मैपदी कला बहुजनहिताय होती है और आत्मनेपदी कला स्वान्तःसुखाय ('कला : एक जीवन दर्शन', पृष्ठ ३३)। ये समस्त वर्गीकरण विचारकों के व्यक्तिगत संस्कार तथा कलाओंमें निहित किसी न किसी वैशिष्ट्यको आधार बनाकर किए गए हैं। इन सभीके विरोधमें कुछ न कुछ कहा जा सकता है किन्तु सभीमें सत्यका अंश सन्निहित है।

कलाके सृजनमें जो मूलभूत सिद्धान्त कार्य करते हैं उन्हें लेकर पाश्चात्य जगत्में पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है और कुछ प्रमुख आधार निर्णीत रूपमें प्रस्तुत किए गए हैं। काव्यको भी कलाओंके अन्तर्गत स्वीकार कर लेनेपर उन आधारोंको भारतीय चिन्तन-क्रममें भी लक्ष्य किया जा सकता है। कला-सृष्टिके प्रमुख आधार **अनुकरण** (imitation), **प्रतिबिम्बांकन** (reflection), **मिथ्याप्रतीति** (illusion), **चयनमूलक अनुकरण** (selective imitation), **आदर्शीकरण** (idealisation), **नवोन्मेष** (invention), **सम्भाव्यांकन** (verisimilitude), **प्रतीकवाद** (symbolisation), **मूर्तिमत्तावाद** (concretisation) और **संकेतवाद** (suggestion) माने गये हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेयने इन सभी आधारोंको किसी-न-किसी रूपमें भारतीय कवियों और आचार्यों द्वारा स्वीकृत सिद्ध किया है। उनके अनुसार विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें चित्रकलाके सम्बन्धमें विचार करते हुए अनुकरणके सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है। इल्यूजनके सिद्धान्तको भट्टलोल्लटने 'चित्रतुरंग-न्याय'के रूपमें स्वीकार किया है। चयनमूलक अनुकरण (selective imitation) का सिद्धान्त

कालिदासकी कृतियोंमें स्वीकृत है। आदर्शीकरणका सिद्धान्त 'नायक'की कल्पना मे नाट्यशास्त्रमें समाविष्ट है। नवोन्मेष (invention) को आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियोंने स्वीकार किया है। 'सम्भाव्य-अंकन' (verisimilitude) के सिद्धान्तको कुन्तकके-वक्रोक्ति सिद्धान्तमें देखा जा सकता है। 'प्रतीकवाद' (symbolisation) भारतीय कलाके ऐतिहासिक विकास-क्रममें बहुत पहलेसे मान्य हैं। बौद्ध कलामें धर्मचक्र शाश्वत सत्यका प्रतीक है। हिन्दू-कलामें शिवका तीसरा नेत्र उनकी ध्वंश-शक्तिका प्रतीक है। मूर्तिमत्तावाद (concretisation) का सिद्धान्त भरतके रस-सिद्धान्तमें आ गया है। 'रस' ब्रह्मानन्द सहोदर और लोकोत्तर है जो स्थायी भाव, संचारीभाव और अनुभावोंके माध्यमसे मूर्त होता है। सकेतवाद (suggestion) का सिद्धान्त भारतीय ध्वनि-सिद्धान्तमें अन्तर्भुक्त है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनके आधारपर कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परामें सामान्यतः 'कला'का प्रयोग कौशलके अर्थमें ही हुआ है। काव्यके रूप-तत्त्व या शिल्पमें उसका सन्निवेश हो सकता है। आधुनिक युगमें पाश्चात्य प्रभावके फलस्वरूप अधिकांश कवियों और विचारकोंने काव्यको भी कलाओंके अन्तर्गत मान लिया है। भारतीय शैव दर्शनमें 'कला'का जो अर्थ मान्य है उसे पाश्चात्य दृष्टिकोणके समकक्ष रखा जा सकता है। कला-सृजनके जिन मुख्य आधारों-की चर्चा पाश्चात्य जगत्‌में हुई है वह भारतीय चिन्तनमें लक्षित किए जा सकते है किन्तु यह तभी सम्भव है जब काव्यको भी 'कला' मान लिया जाय और समस्त काव्यशास्त्रीय चिन्तनको कला-चिन्तनके रूपमें स्वीकार कर लिया जाय। इस समय सामान्य रूपसे काव्य और कलाको समानधर्मी मान लिया गया है। इस प्रकार भारतीय दृष्टि कुछ परिवर्तित होकर पाश्चात्य मान्यताओंके निकट आ गई है।

अध्याय २

साहित्य

अपनेसे इतर समस्त गोचर जगत्के सम्बन्धमें हम दो दृष्टियोंसे विचार करते हैं—वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ। हम अपने जीवनके प्रत्येक क्षण में (सुप्तावस्थाके अतिरिक्त) अपने इर्द-गिर्द की दुनियाके प्रति दो भिन्न स्थितियोंमें जागरूक रहते हैं; क्योंकि वह समस्त संवेदना जिसके कारण मनुष्य चेतन प्राणी कहा जाता है कुछ तो भौतिक सत्ताओं—चाहे वे जड़ हों या चेतन—से प्रेरित और उद्भूत होती है अर्थात् क्षण-विशेष में मनुष्य जिस अंश या सीमा तक जागतिक गतिविधियोंका प्रभाव सीधे अपनी इन्द्रियोंके माध्यमसे ग्रहण करता है, उससे प्रेरित होती है और कुछ उन मनोबिम्बोंसे प्रेरित होती है जो उसके मनोजगत्में निरन्तर गतिशील होते हैं। ये मनोबिम्ब कभी तो भौतिक जगत्से सम्बद्ध होते हैं और कभी उससे एकदम असम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार हम जगत्के प्रति दो प्रकारके दृष्टिकोण रखते हैं। इन दोनोंके आधारपर हम वस्तुस्थितियोंको देखते और समझते हैं। इनमें प्रथम आधार (वस्तुनिष्ठ) हमें वस्तुस्थितियोंका बोध उनके वास्तविक रूपमें कराता है और द्वितीय आधार (व्यक्तिनिष्ठ) उनके व्यक्ति-सापेक्ष्य रूपका बोध कराता है।

यदि हम थोड़ी देरके लिए सोचें तो अनुभव करेंगे कि संसारके प्रति जो हमारा मनोगत दृष्टिकोण है अर्थात् वस्तु-जगत्के जिन बिम्बों और भावनाओंको हम स्मृति और बुद्धिके द्वारा या दोनोंकी क्रिया-प्रतिक्रियाके द्वारा अपने मनोजगत्में किसी समय प्रत्यक्ष कर सकते हैं उनके आधारपर निर्मित दृष्टिकोण है, वह अत्यन्त व्यापक है। संसारके प्रति जो दृष्टिकोण हम अपनी इन्द्रियोंकी सद्यः संवेदनाके आधारपर बनाते हैं वह हमारे कमरेकी दीवारों, या कमरेकी खिड़कीसे दृष्टिगोचर होने वाले वृक्षों, भवनों और व्यक्तियोंतक ही सीमित होता है। लेकिन यदि हम अपने मनको इस सीमासे हटाकर भावना-जगत्में प्रवेश करें तो प्रत्येक देश और प्रत्येक युगकी वस्तुयें और घटनायें हमारे मनोजगत्में

रूपायित हो उठेंगी। वरन् यों कहिए कि हमारे निजी तथा अन्य लोगोंके अनुभवके आधारपर जितनी दुनियाका ज्ञान हमें प्राप्त है वह समस्त दुनिया हमारी भावनामें साकार हो उठेगी। क्योंकि इस मनोगत दृष्टिकोणके निर्माणमें हम मात्र अपनी तात्कालिक संवेदनाओंपर ही निर्भर नहीं करते वरन् अपनी अतीतकी अनुभूतियोंका आधार भी ले सकते हैं। यही नहीं हम दूसरोंकी अनुभूतियों—हर जाति और हर युगके मानवोंके उन विचारों और अनुभूतियोंका भी आधार ग्रहण कर सकते हैं जो बड़े-बड़े भवनोंपर अंकित हैं, कलाकृतियोंमें बिम्बित हैं, परम्पराओंमे प्रवहमान हैं, तथा ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों-में उनके कार्यों और विचारोंकी गाथा बनकर सुरक्षित हैं। दूसरोंसे प्राप्त इन समस्त विचारों और अनुभूतियोंमें अन्तिम, जिसे हम 'साहित्य' संज्ञाके अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं, सबसे अधिक प्रभावशाली है। सभी कलाएँ वास्त-विकताके मनोगत रूपकी अभिव्यक्ति करती हैं किन्तु वे इस मनोगत रूपको व्यक्त करनेमें वास्तविक रूपकी भी सहायता लेती हैं। (इसका अपवाद केवल कविता है जो सूक्ष्मतम साहित्य-रूप है।) किन्तु, साहित्य संगीतात्मक शब्द-झंकृतियोंके अतिरिक्त इस प्रकारकी अन्य कोई सहायता नहीं लेता। क्योंकि साहित्यका सम्बन्ध जगत्के प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोणसे ही है।

अपनी बात साफ करनेके लिए हम एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। मान लीजिए कि एक युद्धका चित्राङ्कन करना है। हम उस अन्तरको स्पष्ट करना चाहेंगे जो एक चित्रकार और एक ऐतिहासिककी चित्रण-पद्धतियोंमें विभाजक रेखा खींच देता है। मेरी दीवालपर एक भित्ति-चित्र है जिसमें चित्रकार वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोणको प्रधानता देता हुआ हमारे सामने युद्ध क्षेत्रको ठीक उसी रूपमें अंकित करता है जिस रूपमे हम उसे एक सुरक्षित स्थानसे युद्धके समय उपस्थित होनेपर देख पाते। वह हमें युद्ध-रत मानवोंका समूह, लोहेकी चमक और चटकीले रंगोंकी कौंध, उठते हुए धुयेंका बादल, सेनानायक और उसके साथियों, अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों एवं व्यक्ति-समूहों तथा मृतकों और घायलोंके भू-लुण्ठित शरीरोंको अंकित करके दिखाता है। यदि हम ध्यानसे उसके चित्रको देखें तो हमें कुछ और दृश्य-विस्तार दिखाई देगा। उदाहरणके लिए हमें अलग-अलग सैनिक टुकड़ियोंकी तैयारी उनके सैनिकोंकी वर्दियाँ और उनके रंग आदि

सब कुछ, जैसा कि हम उस क्षण-विशेषमें एक विशिष्ट दृष्टि-बिन्दुसे देख पाते, दिखाई देगा। किन्तु यह सारा दृश्य-विस्तार कुछ ऐसे ढंगका चित्रित किया गया है कि वह नेत्र-ग्राह्य हो सके। चित्रसे अपना ध्यान हटानेपर हमने उसमे जो कुछ देखा है उसे संक्षेपमें यों कहेंगे—'अब मैं जान गया कि युद्ध कैसा होगा। मैंने वह सब कुछ देख लिया जो युद्ध-कालमें वहाँ उपस्थित रहकर देख सुन पाता।' अब मैं अपनी आलमारीसे उस इतिहास-ग्रन्थको निकाल लेता हूँ जिसमें उसी युद्धका वर्णन किया गया है। उसे पढ़ कर मैं देखता हूँ कि इतिहासकारने बिलकुल भिन्न प्रकारका वृत्त प्रस्तुत किया है। पहली बात यह है कि इतिहासकारका दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ है इसलिए यह युद्धको किसी कोण-विशेषसे नहीं देख रहा है और न वह उसे क्षण-विशेषकी घटनाके रूपमें चित्रित कर रहा है। वह उन सभी परिस्थितियोंका ब्यौरा देता है जिनकी वजहसे युद्ध सम्भव हुआ है। वह उस स्थलकी सूचना देता है जहाँ युद्ध हुआ है। उभय पक्षोंकी संख्या और उनकी राष्ट्रीयताका उल्लेख करता है। युद्धके तात्कालिक और दूरवर्ती प्रभावोंसे अवगत करता है। वह उभय पक्षोंके प्रधान सेनापतियों, उनकी युद्ध-सम्बन्धी योजनाओं, उन्हें सफलतापूर्वक कार्यान्वित करनेकी युक्तियों तथा इसी प्रकारके अन्य ब्योरोंका वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त वह हमें यह भी बताता है कि किस प्रकार युद्धकी यह विशेष घटना कुछ पूर्ववर्ती घटनाओं का परिणाम और परवर्ती घटनाओंका कारण है। किन्तु यद्यपि हमें इन सारे ब्योरोंकी जानकारी हो जाती है और उभय पक्षके सैनिकोंके कृत्योंके विषयमें इतिहासकारकी व्यक्तिगत रायसे भी हम अवगत हो जाते है, फिर भी हमारे सामने युद्धका वह स्पष्ट बिम्ब नहीं उपस्थित होता जो चित्रके देखनेपर उपस्थित हुआ था। यह होनेपर भी युद्धका वह स्पष्ट बिम्ब तभी तक हमारे मनमें टिका रहता है जब तक हम चित्रको देखते रहते हैं, इसके विपरीत इतिहासकार द्वारा वर्णित ब्योरोंके आधारपर युद्धका जो कल्पना-चित्र हमारे मनमें अंकित होता है, यद्यपि स्मृतिके आधारपर इस कल्पनाचित्रके उभरनेमें पर्याप्त समय लगता है, वह कहीं अधिक पूर्ण और स्थायी होता है। इसका कारण यह है कि इतिहासकारने जिन सच्चे ब्योरोंको हमारे सामने उपस्थित किया है वे सभी ऐसे हैं जिन्हें हम अपने व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोणसे सहजही ग्रहण कर सकते हैं इसलिए

वे बड़ी सरलतासे हमारे मनमें संचित किये जा सकते हैं तथा किसी भी समय उनके सम्पूर्ण युद्धका एक मनोबिम्ब या कल्पना-चित्र निर्मित हो सकता है। इसके निर्माणमें प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोधकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम चित्रकारके दृश्य-चित्रण और इतिहासकारके वृत्तवर्णनके अन्तरको एक वाक्यमें उपस्थित करना चाहें तो यों कहेंगे—'जब हमने चित्रको देखकर उससे अपना ध्यान हटाया तो हमें लगा कि हमने युद्धको प्रत्यक्ष देख लिया किन्तु जब हमने इतिहासकी पुस्तकको पढ़कर बन्द किया तो अनुभव किया कि युद्धके विषयमें हम सब कुछ जान गये क्योंकि इतिहासकारने जो कुछ घटित हुआ था सबकी जानकारी करा दी।'

लेखक शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे किसी घटनाके बाह्य स्वरूपका अंकन नहीं करता, वस्तुयें जिस रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा जानी जाती हैं उसकी अनुकृति नहीं प्रस्तुत करता वरन् इन वस्तुओंकी मानसिक प्रतीतिका चित्रण करता है। यों कहिए कि बाह्य घटनाओंके प्रति मनुष्यके रागात्मक सम्बन्धोंको व्यक्त करता है। वह नगरकी इमारत, परिषद्की बैठक, युद्ध, पर्वत, नदी, घाटी आदिका वर्णन नहीं करता वरन् इन वस्तुओंकी उपस्थितिसे उसके या अन्योंके मनमें जो भावनायें या विचार उद्भूत होते हैं, उनको व्यक्त करता है।

इस प्रकार साहित्य अपने व्यापक अर्थमें जागतिक वस्तुस्थितियों द्वारा मानव-मनपर अंकित होनेवाले प्रभावों तथा मानवों द्वारा इनके प्रति व्यक्त किए गए उद्गारोंकी गाथा है। साहित्यका वर्ण्य-विषय सीमित नहीं है। मानवका सम्पूर्ण जीवन, उसके समस्त क्रिया-कलाप तथा भौतिक जगत्की प्रत्येक ज्ञात वस्तु इसका वर्ण्य-विषय बन सकती है। साहित्यमें केवल वास्तविक घटनाओं, और व्यक्तियोंके क्रिया-कलापों तथा उक्तियोंको ही व्यक्त नहीं किया जाता वरन् जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंके निरीक्षण और परीक्षणसे प्राप्त नियमों और विधियोंको भी महत्त्व दिया जाता है। इसी प्रकार, साहित्य केवल उन्हीं वस्तुओंको हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करता जिन्होंने युग-विशेषमें देश-विशेषके निवासियोंको आकृष्ट किया था वरन् उन सामान्य नियमोंको भी प्रत्यक्ष करता है जो प्रकृतिके क्रिया-कलापोंको दीर्घ-काल तक निरन्तर देखने-परखनेके बाद क्रमशः निर्मित हुए हैं। इस प्रकार साहित्य मानव-जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह

मानव-चेतनाको प्रभावित करने वाला, जागतिक परिस्थितियोंके बाद, स
बड़ा साधन है। व्यक्तिगत और जातिगत अनुभूतियोंके सामूहिक-एकत्रीकरणमें
इसका बहुत बड़ा योग है। इन्हीं अनुभूतियोंसे संसारके प्रति हमारा व्यक्तिनिष्ठ
दृष्टिकोण निर्मित होता है।

यह समझने-के लिए कि मनुष्यके व्यक्तिनिष्ठ अस्तित्वके निर्माणमें पुस्तकोंका कितना बड़ा योग है, हम एक क्षणके लिए रुक कर विचारेंगे कि साहित्य हमारे लिए क्या करता है? साहित्यके माध्यमसे हम अतीतकी महान् विभूतियोंसे सम्पर्क स्थापित करते हैं। हम प्लेटो, बुद्ध, मॉन्तेन, एडिसनसे विचार-विनिमय करते हैं, बेबीलोन, एथेन्स, रोम और अलेक्जेन्ड्रियाकी सड़कोंपर विचरण करते है, युगों-पूर्व निर्मित और सदियों पूर्व भू-लुण्ठित कीर्ति-स्तम्भोंको देखते हैं, हम विगत युगोंके जीवनको पुनर्जीवित करते हैं, और आजके जीवनसे तुल्ना करके मनुष्यकी विकासात्मक उपलब्धियोंका आकलन करते हैं। साहित्यके माध्यमसे ही हम अरस्तूसे[१] 'बुद्धिमता', यूक्लिड (Euclid)[२]से 'भूमिति', जस्टीनियन[३] (justinion)से 'विधि' तथा ईसा और सेंट पॉलसे 'नैतिकता'की शिक्षा ग्रहण करते हैं। साहित्यके द्वारा हम पाताल लोक तककी भौतिक स्थितियों, निवासियों, जलवायु और उपजसे उसी प्रकार परिचित होते हैं जिस प्रकार अपने पड़ोसी देशों की। इसके अतिरिक्त, रचनात्मक साहित्यके महान् सर्जकोंने निजी कल्पना-प्रदेशोंका निर्माण किया है और उन्हें अपनी प्रतिभासे प्रसूत मानस-पुत्रोंसे आबाद किया है। होमरने[४] हमें सूर्य-रश्मि-ज्योतित द्वीपों और नील-लोहित रंगके सागरोंसे युक्त एक ईजियन[५] (Aegen) दिया है, दान्तेने[६] एक अन्धकाराच्छन्न

---

१. अरस्तू (Aristotle)—३८४-३२२ ई० पूर्व, ग्रीकका महान् दार्शनिक, प्लेटोका शिष्य।

२. यूक्लिड (Euclid)—३२३-२८३ ई० पूर्व, अलेक्जेन्ड्रियाका प्रसिद्ध भूमिति-वेत्ता।

३ जस्टीनियन (Justinion)—कुस्तुन्तुनियाका बादशाह। ५२७-६५ ई० में विद्यमान। यह रोमन विधि-विज्ञानका वेत्ता और उसके कुछ नियमोंका जनक माना जाता हैं।

४. होमर (Homer)—ग्रीकका महान् महाकाव्यकार। यह 'इलियड' और 'ओडेसी'का रचयिता माना जाता है। इसका समय १०५० और ८५० ई० पूर्व के बीच अनुमान किया जाता है।

५. इजियन (Aegean)—होमर द्वारा चित्रित एक रहस्यमय कल्पना-लोक।

६. दान्ते (Daute)—१२६५-१३२१ ई०, इटलीका महानका कवि। यह सम्भवतः फ्लोरेन्स में पैदा हुआ था। 'डिवाइन कॉमेडी' इसकी प्रसिद्ध कृति है।

रहस्यमय इ फर्नो[1] (Inferno)की कल्पना की है, मिल्टनने[2] ईडनके उद्यान[3] की झाँकी दिखाई है, शेक्सपियरने[4] रानी एलिजाबेथके समयके इंग्लैण्डके समानान्तर एक नवीन एलिजाबेथियन इंग्लैण्डका चित्राङ्कन किया है, मोलियर (Molie're)[5]ने, ग्रैंड मोनार्क[6] (Grand Monarque)के फ्रांससे अधिक स्वाभाविक और अधिक सजीव फ्राँसकी रचना की है, और यही कारण है कि ओडीसियस[7] (Odysseus), एन्टीगोनी[8] (Antigone), बीएट्रिस[9] (Beatrice), हैमलेट[10] (Hamlet), तारतफ[11] (Tartufe), आदि जो महान् साहित्य स्रष्टाओंकी मानसी सृष्टियाँ हैं, मोजेस[12] (Moses), अलेक्जेण्डर (Alexander), सीज़र (Caesar), जोन ऑव आर्क (Joan of Arc) और हेनरी अष्टम् (Henry VIII) आदि ऐतिहासिक व्यक्तियोंके समानान्तर

---

१. इन्फर्नो (Inferno)—दान्ते ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'डिवाइन कॉमेडी' में इस भीषण नर्क-लोककी कल्पना की है।

२. मिल्टन (Milton)—१६०८-७४ ई० अंग्रेजोंका महान् दार्शनिक कवि। 'पैराडाइज लॉस्ट और पैराडाइज री-गेन्ड' इसकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ है।

३. इडेनका उद्यान (*Garden of Eden*)—बाइबिलमें वर्णित आनन्द-लोक जिसे मानव-का आदि स्थान माना जाता है। मिल्टनने बाइबिलसे ही इस लोककी कल्पनाका आधार ग्रहण किया है।

४. शेक्सपियर (Shakespeare)—१५६४-१६१६ ई०, प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि और नाटक-कार। यह महारानी एलिजाबेथका समकालीन था।

५. मोलियर (Molie're)—१६२२-७३ ई०में विद्यमान। फ्रांसका प्रसिद्ध प्रहसन लेखक।

६. ग्रैंड मोनार्क (Grand Monarque)—फ्रांसके राजा चौदहवें लुई (Louis XIV) की लोकप्रिय उपाधि। ग्रैंड मोनार्कका शासन-काल १४६१-८३ ई० तक था।

७. ओडीसियस (Odysseus)—ग्रीकके उसिका द्वीपका राजा। हेलेनका प्रेमी। ट्रोजन युद्धका नायक। होमरने इसे ही अपना काव्य-नायक बनाया है। इसे यूलीसीज़ (Ulysses) भी कहते हैं।

८. एन्टीगोनी (Antigone)—इडीयसकी पुत्री। सोफोक्लीजके दुःखान्त नाटककी नायिका।

९. बीएट्रिस (Beatrice)—शेक्सपियरके प्रसिद्ध दुःखान्त नाटक 'मच एडो एबाउट नथिंग'की नायिका।

१०. हैमलेट (Hamlet)—शेक्सपियरके प्रसिद्ध दुखान्त नाटक हैमलेटका नायक। डेनमार्कका राजकुमार।

११. तारतफ (Tartufe)—मोलियरके इसी नामके दुखान्त नाटकका खल नायक।

१२. मोजेज (Moses)—बाइबिलका एक प्रसिद्ध पात्र।

अमर होकर जी रहे हैं। साहित्यने इन व्यक्तित्वोंको हमारे इतने निकट ला दिया है, हमें इनसे इतना परिचित करा दिया है कि हम जिस प्रकार अपने प्रियतम और निकटतम मित्रोंको अपने समीप अनुभव करते हैं वैसे ही इनको भी।

संसारके प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण, जिसके निर्माणमें साहित्यका बहुत बड़ा योग है, की चर्चा समाप्त करनेके पहले हमें एक महत्त्वपूर्ण विषयपर और विचार कर लेना है। वह यह है कि व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के प्रति प्रतिक्रियात्मक होता है। संसार का जो ज्ञान हम स्वयं अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे तथा साहित्यके माध्यमसे प्राप्त करते हैं वह भौतिक जगत्को समझनेकी हमारी क्षमतामें वृद्धि करता है और प्राकृतिक तथा कलात्मक सौन्दर्य द्वारा प्राप्त आनन्दको उदात्त और गहन बनाता है। व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोणके आधारपर ही हम वस्तु-जगत्को उचित रीतिसे समझ सकते हैं। यही कारण है कि पिछले अध्यायमें हम इस बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करा आए हैं कि समीक्षात्मक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेका एक उद्देश्य यह भी है कि हम कलाकृतियोंके महत्त्व, सौन्दर्य और मूल्यको हृदयंगम करनेके साथ ही उन वस्तु-स्थितियोंको भी समझें जो कलाकृतियोंके माध्यमसे व्यक्त होती हैं। गेटे (Goethe)ने एक बहुत बड़ी बात कही थी। उसने कहा था कि कोई भी यात्री रोमसे बाहर ऐसी कोई वस्तु नहीं ले जाता जो वह इसके पहले ले न आया हो। गेटेके इस कथनके मूलमें उपर्युक्त सिद्धान्त अन्तर्निहित है।

निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि साहित्य मानवताका मस्तिष्क है। जिस प्रकार व्यक्तिका मस्तिष्क उसके इन्द्रियबोध, उसकी अनुभूतियों तथा उसके अर्जित ज्ञानका पूरा ब्योरा सुरक्षित रखता है और इसीके प्रकाशमें वह प्रत्येक नवीन संवेदना और अनुभूतिको ग्रहण करता है उसी प्रकार सम्पूर्ण मनुष्य जाति अपने अतीतको साहित्यमें सुरक्षित रखती है और इस सुरक्षित ज्ञानके प्रकाशमें ही उसकी वर्तमान समस्याओं और परिस्थितियोंको समझा जा सकता है। मस्तिष्कके सहयोगके अभावमें, व्यक्तिका इन्द्रियबोध अस्पष्ट और महत्त्वहीन है, पूर्व-संचित अनुभूतियोंके अभावमें, जिन्हें साहित्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है, मनुष्य जातिका जीवन अधःपतित होकर पशुवत् हो जाएगा।

परिशिष्ट

साहित्य

भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय परम्परामें काव्य और साहित्य समानार्थक माने गए हैं। 'साहित्य' 'सहित' का भाववाची रूप है। सहित शब्दमें भाववाचक 'य' (ष्यञ्) प्रत्यय लगानेसे साहित्य बनता है। **'सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्'** अर्थात् शब्द और अर्थके सामञ्जस्यसे साहित्यकी सृष्टि होती है। काव्यकी भी यही परिभाषाकी गई है। **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** (भामह), **'शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्** (कुन्तक), **'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'** (मम्मट) आदि प्रसिद्ध परिभाषाओंसे यही सूचना मिलती है। तुलसीदासने भी 'कविहिं अरथ आखर बल साँचा' कहकर शब्द और अर्थके सामञ्जस्यकी ओर ही संकेत किया है। शब्द और अर्थका वही सम्बन्ध है जो ब्रह्म और जगत् का, पुरुष और प्रकृतिका या शंकर और भवानीका। पुरुष और प्रकृतिकी भाँति शब्द और अर्थ एक दूसरेसे संपृक्त रहते हैं। 'अर्थ' रूपात्मक सत्ताका ही नाम है। जब जगत्के नाना अर्थों (रूपात्मक सत्ताओं)को हम पदों (शब्दों)में बाँध लेते हैं तब दोनोंकी सम्पृक्त सत्ताको पदार्थ कहा जाता है। साहित्यमें हम सम्पूर्ण यथार्थ जगत्को अपनी आत्माके रसमें सिक्त करके पद या शब्दमें आबद्ध कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि जब हम जगत्की यथार्थ अनुभूतियोंको भाषाके माध्यमसे व्यक्त करते हैं तो साहित्यकी सृष्टि होती है। पाश्चात्य आलोचकोंने साहित्यकी रचनाके मूलमें मुख्यतः चार प्रेरणा-स्रोतोंकी स्थिति मानी है। १—आत्म-अभिव्यक्तिकी इच्छा, २—मानव और उसके क्रियाकलापोंके प्रति हमारी दिलचस्पी, ३—यथार्थ-जगत्, जिसमें हम रहते हैं और कल्पना-जगत् जिसका हम स्वप्न देखा करते हैं, दोनोंमें हमारा अनुराग, तथा ४—रूप या शिल्प-सौन्दर्यके प्रति हमारी चाह। विचार-

पूर्वक देखा जाय तो इनमें प्रथम प्रेरणा ही वास्तविक और मूल-प्रेरणा है। जिसे 'आत्म' कहा जाता है वह क्या है ? अपनेसे इतर जगत् और जीवनकी यथार्थता तथा उससे और अधिक सुन्दर और भव्य परिवेशकी कल्पनाके दो छोरोंकी वैयक्तिक अनुभूति ही तो 'आत्म' या 'स्व'की सृष्टि करती है इसी 'स्व'को हम भाषाके माध्यम से कला-रूपमें साकार करते हैं। इस प्रकार साहित्यकी मूलभूत प्रेरणा और उसके स्वरूपको लेकर पाश्चात्य और भारतीय दृष्टियोंमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। कलासृष्टिके आधारोंका विवेचन करते हुए हमने पिछले अध्यायमें देखा है कि वे सारे आधार—अनुकरण, आदर्शीकरण आदि—जो पाश्चात्य जगत्में मान्य हैं, भारतीय काव्य एवं शास्त्रमें भी किसी न किसी रूपमें आ गए हैं। बाह्य जगत्की यथार्थ स्थितिकी छाया कलाकारके मनपर बिम्बित होती रहती है और कलाकार स्वयं भी जगत्की गतिविधिके सम्बन्धमें अपनी प्रतिक्रियायें एवं मान्यतायें व्यक्त करता है। साहित्यमें यह दोनों ही सुरक्षित होता चलता है। इसीलिए साहित्य वस्तुनिष्ठ भी होता है और व्यक्तिनिष्ठ भी। भारतीय रसशास्त्रमें वस्तु और व्यक्तिके सामञ्जस्यकी एक अन्तर्भूमि भी मान्य है। साधारणीकरणका सिद्धान्त इसी सामञ्जस्यमयी अन्तर्भूमिकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। आचार्योंके अनुसार रसानुभूतिके समय आश्रय, आलम्बन, अनुभावादि तथा सहृदय पाठक या दर्शक सभीके व्यक्तिगत सम्बन्धोंका परिहार हो जाता है। सभीका 'साधारणीकरण' हो जाता है। अर्थात् काव्य-वर्णित राम और सीता दशरथके पुत्र और पुत्रवधू न होकर मात्र नायक और नायिका रूपमें प्रतिष्ठित होते हैं। वे विशेष न रहकर सामान्य हो जाते हैं। उनके द्वारा एक दूसरे के प्रति व्यक्त भाव निज और परकी भावनासे मुक्त शुद्ध भाव रूपमें व्यक्त होता है। भावों और अनुभूतियोंका यह सामान्य स्वरूप वस्तु-जगत् एवं व्यक्ति-जगत्के बीचकी अन्तर्भूमि है। पाश्चात्य विचारक भी 'कला'के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि वह पाठक या दर्शककी कल्पनाको प्रभावित करने-वाली हो। यह तभी सम्भव है जब कलाकार द्वारा व्यंजित अनुभूति निर्वैयक्तिक हो। इस प्रकार 'साधारणीकरण' जैसे किसी पारिभाषिक शब्दका प्रयोग न करते हुए तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंमें इसे किसी मान्य सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार न करते हुए भी पाश्चात्य विचारक साधारणीकरणकी मूल-भावना (कलाकी

प्रणयिता) किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार अवश्य करते हैं। क्रिस्टोफर काडवेल ने ठीक ही कहा है।

"Man knows that there is a likeness in the worlds of men; this likeness is expressed for example in science, the world of perceptual reality. In the same way he knows there is a likeness in feelings. This likeness is expressed in art, the world of effective reality."

यह होते हुए भी भारतीय दृष्टि और पाश्चात्य मान्यताओंमें आत्यन्तिक समानता नहीं है। समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य आदर्शोन्मुख रहा है। उसका उद्देश्य मंगलका विधान करना रहा है। कवि चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्तिके लिए ही काव्य-साधना करता रहा है। भारतीय दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक दृष्टि है। यहाँकी काव्य-रचनापर भी इस दृष्टिका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। आध्यात्मिक दृष्टिसे समस्त विश्वमें एक ही 'आत्मा'का प्रसार मान्य है। आनन्द आत्माका सहज धर्म है। आत्मा, सुख-दुःख आदि द्वैतपरक अनुभूतियोंसे परे होती है। वह एक द्वन्द्वातीत स्थिति है। इसी दृष्टिसे भारतीय विचारक काव्य-रसकी व्याख्या करता है। काव्यकी आत्मा रस है। 'रस' आनन्द रूप है। इसका आस्वादन करते समय सामाजिक 'मम' और 'पर'की भावनासे मुक्त रहता है। इस प्रकार 'रस'के आस्वादनका वही रूप है जो आत्मोपलब्धि का। भारतीय दृष्टिमें कवि साक्षात् ब्रह्मा या प्रजापति है। ब्रह्मा रससे तृप्त है। 'आनन्द'के अनुभवके लिए ही उसने सृष्टिकी रचना की है। उसकी सृष्टि एक अखण्ड रसकी धारासे आप्लावित है, (संस्कृत आलोचना, पृष्ठ १६) यही स्थिति कवि की है। काव्य-रचनाके समय वह अपने 'स्व'को इतना विस्तृत कर देता है कि 'पर'के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अनुभूति 'स्व' और 'पर'की सीमासे मुक्त शुद्ध अनुभूति रहती है। पाठक भी इसी स्तरपर उठकर अपने निजी लौकिक बन्धनोंसे मुक्त होकर इस अनुभूतिमें लीन होता है। काव्यके आनन्दको आत्मोपलब्धिके आनन्दसे सम्बद्ध करके भारतीय विचारकोंने अपनी अध्यात्मपरक दृष्टिका ही परिचय दिया है। भारतीय दृष्टिने काव्यके क्षेत्रमें नितान्त वैयक्तिकता (most narrowly indi-

vidual experience)को महत्त्व नहीं दिया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें पाश्चात्य प्रभावके कारण वैयक्तिकताका भी समावेश होने लगा है और आलोचक भी यह कहने लगे हैं—'साधारणीकरणके प्रवाहमें वैयक्तिक विशेषताओंको न बहा देना चाहिए। पाश्चात्य देशोंमें व्यक्तिका मान है। हमको भी उसे भूलना न चाहिए'। (सिद्धान्त और अध्ययन, गुलाबराय) वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें 'व्यक्ति'को पर्याप्त महत्त्व दिया जा रहा है। 'प्रयोगवादी' और 'नयी कविता'में नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियोंको व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति विकसित हो रही है। प्राचीन कालमें काव्यकी विश्वजनीनताका आधार उसका रागतत्त्व था। आजके बुद्धिवादी व्यक्तिको साहित्यका केन्द्र मान लेनेपर परस्पर विरोधी धारणाएँ काव्यमें व्यक्त हो रही हैं। परिणामस्वरूप साहित्यका क्षेत्र भी अलग-अलग कैम्पोंमें विभाजित हो रहा है और साधारणीकरण या प्रेषणीयताका प्रश्न विवादास्पद बन गया है। जो भी हो आजका भारतीय साहित्य पाश्चात्य साहित्यके पद-चिह्नोंपर ही चल रहा है और दोनोंके स्वरूपमें किसी प्रकारके मौलिक भेदकी स्थिति नहीं रह गई है।

अध्याय ३

प्राचीन आलोचना

हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार साहित्यके माध्यमसे हम उन व्यक्तियो-के सम्बन्धमें भी विस्तृत जानकारी प्राप्त करते हैं जो हमारी प्रत्यक्ष ऐन्द्रियक ज्ञान-परिधिमें नहीं आते। यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि हमारे जीवन-में पुस्तकोंका इतना अधिक महत्व है, कमसे कम हमारे बहुविध व्यक्तित्व के निर्माणमें उनका इतना बड़ा योग है कि कुछ गिनी-चुनी मान्य पुस्तकोंके कथ्य-पर अधिकार प्राप्तकर लेना सामान्य शिक्षाके अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण बात समझी जाती है। तात्पर्य यह कि संसारका परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए यही सर्व स्वीकृत प्रणाली है। यद्यपि पूरा साहित्य संसारके प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण बनानेमें हमारा सहायक होता है किन्तु पुस्तकें जिस पद्धतिसे इस सन्दर्भमें हमारी सहायता करती हैं उसमें हम पर्याप्त भिन्नताका अनुभव करते हैं। कुछ पुस्तकों-का महत्त्व मुख्यतः उनमें वर्णित तथ्योंके कारण होता है और कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका महत्त्व वर्णित तथ्योंपर आधृत न होकर उस शैली या रचना पद्धतिके कारण होता है जिसके माध्यमसे तथ्य मनोग्राही रूपमें प्रस्तुत किये जाते हैं। यद्यपि इन दोनों श्रेणियोंमें स्पष्ट अन्तर करने वाली विभाजिका रेखा नहीं खीची जा सकती किन्तु दोनोंका अन्तर इस रूपमें समझा जा सकता है कि प्रथम कोटिमें आनेवाली पुस्तकें हमें जीवनके अनुभूत तथ्योंसे अवगत कराती हैं और द्वितीय कोटिमें आनेवाली पुस्तकें हमारे समक्ष जीवनके चित्र प्रस्तुत कराती हैं।

हम दो-एक उदाहरणों द्वारा पूर्वकथित अन्तरको स्पष्ट करना चाहेंगे। लॉक[1] (Locke) महोदयकी पुस्तक 'ऐसे ऑन दि ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग'(Essay

---

१. लॉक, जॉन (Locke, John, १६३२-१७०४) ई० प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक। समरसेटके रिंगटन स्थानमें पैदा हुआ था और उसकी शिक्षा वेस्टमिनिस्टर और क्राइस्ट

on the Human Understanding) और गिबन[1] (Gibbon)की पुस्तक 'डिक्लाइन ऐण्ड फाल' (Decline and Fall) ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें तथ्यो-को प्रधानता दी गई है। जार्ज इलियट[2] (George Eliot)के उपन्यास जिसमें उसने मध्यवर्ती प्रदेशोंके जन-जीवनकी पूर्ण एवं यथार्थ गाथा प्रस्तुतकी है, निश्चय ही ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें तथ्योंकी तुलनामें उनको प्रस्तुत करनेकी शैली अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकारकी कृति 'दि स्टोरी ऑव ऐन अफ्रीकन फार्म'[3] (The Story of An African Farm) है जिसमें हम दक्षिणी अफ्रीकाके ग्राम्य जीवनका चित्र पाते हैं और यही स्थिति 'डाइना ऑव दी क्रासवेज'[4]की है। इस कृतिमें तो प्रमुख पात्रका व्यक्तित्व इतना महिमामय है कि पूरी पुस्तक एक सामान्य चित्र-रचना न होकर एक जीती-जागती प्रतिमा बन गई है। एक सुन्दर और स्वेच्छाचारी औरतकी सजीव प्रतिमा, जो परिस्थितियो-के आग्रहके कारण अपनी आकांक्षाओंको संवरण नहीं कर पाती और जिसकी निजी विशेषतायें ही महत्त्वाकांक्षाओंको उभारती रहती हैं। इस प्रकार साहित्य-कृतियोंमें हम स्पष्टतया दो तत्त्व पाते हैं—वस्तु और शिल्प। इन्हीं दोनों तत्त्वोंकी सापेक्षिक स्थितिपर साहित्यका प्रमुख वर्गीकरण जो सामान्य साहित्यसे रचनात्मक साहित्यको अलग करता है—आधृत है। साहित्य-समीक्षा, जो साहित्य-कृतियोंके

चर्चमें हुई थी। इसे मनोविज्ञानकी विश्लेषणात्मक पद्धतिका जनक माना जाता है। इसने राजाओंको चुनौती दी थी और क्रान्तिका समर्थन किया था।—अनु०

१. गिबन, एडवर्ड (Gibbon, Edward, १७३७-९४ ई०) प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता। इसने १७६४ ई०में इटलीकी यात्राकी थी और इसके बाद ही इसने अपनी प्रसिद्ध कृति-'डिक्लाइन एण्ड फाल ऑव दि रोमन इम्पायर'की रचनाकी थी। जीवनके अन्तिम दिन इसने लंडनमे ही व्यतीत किए थे।—अनु०

२. इलियट, जार्ज (१८१९-१८८० ई०) प्रसिद्ध स्त्री उपन्यासकार।—अनु०

३ 'दि स्टोरी आव ऐन अफ्रीकन फार्म' स्रेनर, ओलिव एमिली एल्बर्टिना (Schreiner, Olive Emilie Elbertina, १८५५-१९२० ई०)का प्रसिद्ध उपन्यास। इस स्त्री उपन्यासकारका जन्म केपकॉलोनी (अफ्रीका)में हुआ था और इसने १८८ १ई०में इंगलेंड में आकर रहना आरम्भ किया था।—अनु०

४. 'डाइना ऑव दी क्रासवेज' (*Diana of the Crossways*) मेरेडिथ (Meredith) का प्रसिद्ध उपन्यास जिसका प्रकाशन १८८५ ई०में हुआ था।—अनु०

उचित महत्त्व और मूल्यके आकलनका विज्ञान है, के अन्तर्गत यह वर्गीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसी कारण साहित्यका वह अंश जो रचनात्मक नहीं है मुख्यतः वैज्ञानिक पद्धति स्वीकार करता है, लेकिन रचनात्मक साहित्य मुख्यतः कलात्मक-रचना-प्रणाली स्वीकार करता है। इसीलिए हमने शुरूमें ही यह स्पष्ट कर दिया है कि पुस्तकोंमें स्पष्टतया दो पृथक् कोटिके मूल्य होते हैं जिनमेंसे प्रत्येकका आकलन पृथक् और स्पष्ट मूल्याधारोंको दृष्टिमें रखकर किया जाना चाहिए। ऐसी साहित्य-कृतियाँ जिनमें रचनात्मक तत्त्व अल्पांशमें होता है या बिल्कुल नहीं होता और इसीलिए जिनमें वैज्ञानिक पद्धति स्वीकार की गई होती है, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा विश्लेषित विषयके विशेषज्ञों द्वारा आलोच्य होती हैं, किन्तु रचनात्मक साहित्यकी स्थिति बिलकुल दूसरी है। रचनात्मक साहित्य जिसमें ज्ञानवैशिष्ट्य अप्रधान होता है, जिसमें निरूपित सत्य सामान्य और सर्वजन-संवेद्य होता है, जिसमें महत्त्व मात्र रचना-विधिका होता है और जिसका शिल्प कला-शिल्प होता है, कलाकारों द्वारा ही सुन्दर रीतिसे आलोचित होता है।

लेकिन ये दोनों विशिष्ट गुण या मूल्य न केवल उन कृतियोंमें पाये जाते हैं जो क्रमशः साहित्यके पूर्वोक्त दो प्रमुख वर्गोंमें किसी एक से सम्बद्ध होती हैं, वरन् इन दोनों प्रमुख वर्गोंमें आनेवाले अन्य अनेक साहित्य-धाराओं—विज्ञान, दर्शन, इतिहास, जीवनी, निबन्ध, उपन्यास और कविता—में भी विभिन्न अनुपातोंमें सूक्ष्मतया संश्लिष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त, सभी प्रकारका रचनात्मक साहित्य क्या सभी प्रकारका साहित्य जो मात्र विज्ञान नहीं है अर्थात् यों कहिए कि वह सारा साहित्य, जिसमें लेखक तथ्योंके साथ अपनी निजी मानसिक उद्भावना भी जोड़ता चलता है, एक अन्य गुण या मूल्यसे युक्त होता है जिसकी चर्चा मैंने अभी तक नहीं की है किन्तु जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और वास्तविक है। यह गुण या मूल्य आनन्द प्रदान करनेकी विशेषता है—शुद्ध कलात्मक आनन्द। यह आनन्द-प्रदान करनेकी क्षमता काव्यके साथ ही अन्य समानधर्मी कलाओंमें भी होती है। यह आनन्द न तो उचित आचरण करनेकी भावनासे उत्पन्न होता है न किसी स्थूल उपयोगिता या लाभ की भावनासे। इसके मूलमें निहित प्रसन्नता स्वयं पूर्ण और अनासक्ति-जनित होती है। रम

प्रकार, कलाकृतियोंको वैशिष्ट्य प्रदान करनेवाले तीन मूलतत्त्व—वस्तु, शिल्प और आनन्ददायिनी शक्ति—होते हैं। विभिन्न साहित्य-कृतियोंमें इनकी स्थिति विभिन्न मात्रामें लक्ष्यकी जा सकती है। और चूँकि ये तीनों तत्त्व सभी प्रकारकी साहित्य-कृतियोंमें या एक ही विषयकी भिन्न-भिन्न कृतियोंमें अलग-अलग मात्रा और अनुपातमें पाये जाते हैं, इसलिए बड़े-बड़े विचारकों और चिन्तकोंका साहित्य-कृतियोंको अलग-अलग दृष्टिकोणोंसे देखना या उनके मूल्य और महत्त्व-का आकलन विभिन्न रुचियोंके अनुसार करना या किसी एक ही कृतिके सम्बन्धमें उनके विचारों और निर्णयोंका अनिश्चित होना, स्वाभाविक है।

जो भी हो, विचारकों और विद्वानोंके इस प्रकारके प्रयत्नों—यद्यपि बहुतसे प्रयत्न सर्वथा अपूर्ण और प्रयास मात्र रहे हैं—के फलस्वरूप ही आज हम साहित्य-कृतियोंके सम्बन्धमें कुछ निश्चित और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंकी उपलब्धि कर सके हैं। इन सिद्धान्तोंको ठीकसे समझनेके लिए यह आवश्यक है कि हम इस प्रकारके प्रयत्नों और अन्वेषणोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त करें जिन्होंने समीक्षा-शास्त्रके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

प्लेटो, पहला महान् लेखक था जिसने साहित्यको साहित्यके संदर्भमें रखकर देखनेकी चेष्टा की। चूँकि इस क्षेत्रमें उसका प्रयास पहला प्रयास था और वह नैतिक मूल्योंसे सम्बद्ध प्रश्नोंको सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता था इसलिए स्वाभाविक था कि वह साहित्यके प्रथम मूल-तत्त्व 'वस्तु'के विवेचनमें ही सर्वथा तल्लीन हो जाय और सचमुच उसने वस्तु-विवेचनपर इतना अधिक ध्यान दिया है कि साहित्यके दो अन्य प्रधान तत्त्व—शिल्प और आनन्ददायिनी शक्ति—सर्वथा उपेक्षित रह गये हैं। प्लेटोने विशेष रूपसे साहित्य और सामान्यतः सभी कला-कृतियोंके मूल्याङ्कनके लिए जो मानदण्ड प्रस्तुत किया है वह बहुत कुछ साहित्य कृतियोंमें वर्णित और निरूपित वस्तु-सत्यसे प्रेरित होकर उसीके आधारपर निर्णीत हुआ है। उसने कला और नैतिकताको अन्योन्याश्रयी सिद्ध किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कला और साहित्यको नैतिक मूल्योंका वाहक मात्र समझता था। यह सिद्धान्त अपने आपमें इतना महत्त्वपूर्ण है और प्लेटोके दर्शनमें इसको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है कि मैं इसे स्वयं प्लेटोके शब्दोंमें ही उद्धृत करना चाहूँगा।

"विचार, रूप, लय और समंजसताका सौन्दर्य चारित्रिक सौन्दर्यपर आधृत है, व्यक्तिके अच्छे स्वभावसे सम्बद्ध है। जब हम अच्छे स्वभावकी बात कहते है तो हमारा तात्पर्य उन निरीह व्यक्तियोंके स्वभावसे नहीं होता जो उदासीनसे रहते हैं और जिन्हें हम शीलवश भले आदमी कहा करते हैं वरन् उन व्यक्तियोंसे है जो चारित्रिक दृष्टिसे सचमुच श्रेष्ठ और उत्तम कोटिमें आते हैं।

"जो विशिष्ट गुण चारित्रिक सौन्दर्यमें लक्षित होते हैं वे ही एक विशेष ढंगसे चित्र-कला तथा अन्य समानधर्मी कलाओं—शिल्प, बुनाई और कढ़ाई आदि—में भी सन्निहित होते हैं। वे ही सामान्य कोटिकी कलाओं, शारीरिक ढाँचोंके निर्माण तथा सभी अवयवी पदार्थोंके रचना-विकासमें भी पाये जाते हैं। इन सभीमें रूपात्मक संघटनकी अच्छाइयाँ और त्रुटियाँ लक्षित होती हैं। रूप, लय और समंजसता सम्बन्धी त्रुटियाँ विचार और चरित्र सम्बन्धी त्रुटियोंसे सम्बद्ध है साथ ही कलात्मक निपुणता और सौन्दर्य आत्मसंयम आदि नैतिक मूल्योंसे सम्बद्ध हैं। वस्तुतः कलात्मक सौष्ठव नैतिक उच्चताको व्यक्त करता है।

"हमें अपनी चारित्रिक और नैतिक श्रेष्ठताके कारण समर्थ कलाकारोंसे आशा करनी चाहिए कि वे सौन्दर्य और पूर्णताका स्वरूप स्पष्ट करें ताकि हमारे नवयुवक स्वास्थ्यवर्द्धक स्थानोंमें रहनेवाले व्यक्तियोंकी भाँति निरन्तर शिवतासे प्रभावित होते रहें। अपने कानों और नेत्रोंके माध्यमसे वे जो भी प्रभाव ग्रहण करेंगे वह मूर्तिमान सौन्दर्यसे प्रेरित होगा और इस प्रकारका वातावरण शक्ति-वर्द्धक प्रदेशोंसे आनेवाली स्वास्थ्यवर्द्धक वायुकी भाँति उन्हें अलक्षित रूपसे प्रारम्भिक अवस्थासे ही सत्यकी भावनाको ग्रहण करनेकी प्रेरणा प्रदान करेगा।"

इस दृष्टिसे साहित्य और कलाके सम्बन्धमें विचार करते हुए प्लेटोने साहित्य-समीक्षाको एक ऐसे साधनके रूपमें स्वीकार किया जो किसी भी साहित्य-कृतिके सम्बन्धमें यह निर्धारित कर सके कि वह किस सीमा तक जीवनके प्रति स्वस्थ और सच्चा सन्देश उपस्थित करती है। सत्यको साहित्यकी उच्चताका मानदंड मान लेनेपर प्लेटोने देखा कि उनके समयका ग्रीक साहित्य—जिसमें विशेष रूपसे होमर[१]

---

१. होमर (Homer) ग्रीकका महान् महाकाव्यकार जिसे 'इलियड' (*Illiad*) और 'ओडेसी' (*Odyssey*) का रचयिता माना गया है।—अनु०

और हीसीयड[1] के काव्य, पिण्डार[2] के गीत-काव्य और ऐथेन्सके नाटककारो की श्रेष्ठ कृतियाँ आती हैं—नैतिक दृष्टिसे हीन था। वह कहता है कि कवि और गद्यलेखक मानव जीवनकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टियोसे गलती करते रहे हैं वे ऐसा दिखाते हैं कि बहुतसे बुरा जीवन व्यतीत करनेवाले सुखी हैं और बहुतसे सच्चे आदमी दुःखी हैं और बुरा कृत्य—यदि उसका पता न चले—लाभप्रद होता है और ईमानदारीका व्यवहार पड़ोसीके लिए भले ही लाभप्रद हो अपने लिए हानिकारक होता है। ग्रीकके रचनात्मक साहित्यकी वर्ण्यवस्तुके स्वरूपपर अनैतिक होनेका आक्षेप लगानेके साथ ही, उसी मानदण्ड-का प्रयोग करते हुए, उसने बताया कि उनकी शैली भी त्रुटिपूर्ण है। इस शैलीके सम्बन्धमें समीक्षात्मक निर्णय देनेमें वह अपने युगकी सीमामें अपेक्षाकृत अधिक बँध गया है। क्योंकि प्लेटो, यह न समझकर कि साहित्य प्रकृततः जगत्के प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण उपस्थित करता है, वस्तुतः जो साहित्यका सबसे बड़ा गुण है, उसे भी दोषमें परिगणित करता है। वह यह समझ ही नहीं सका कि कवि या रचनात्मक साहित्यका स्रष्टा यथार्थको यथातथ्य रूपमें उपस्थित नहीं करता वरन् उसकी मानसिक प्रतिच्छाया व्यक्त करता है। यही कारण है कि उसने सत्यकी अभिव्यक्तिके सन्दर्भमें साहित्यकारको, जो शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे यथार्थका मनोबिम्बात्मक स्वरूप व्यक्त करता है, साधारण चित्रकारकी तुलनामें, जो रंग और रेखाओंके माध्यमसे वस्तुओंकी मात्र अनुकृति प्रस्तुत करता है, हीन घोषित करके और शिल्पीकी तुलनामें, जो—यदि स्वयं उसीका उदाहरण दिया जाय—मात्र ऐसा उपादान प्रस्तुत करता है जिसपर साहित्यिक वर्णन और चित्र-लेखन दोनों ही समान रूपसे आधृत होते हैं, हीनतर घोषित करके अपनी विवेकहीनताका परिचय दिया है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो प्लेटो जैसे पारदर्शी विचारक द्वारा भी इन्द्रियानुभूति सत्य और भावनात्मक सत्य या तर्क

१. हीसीयड (Hesiod)—ग्रीकके प्रारम्भिक कवियोंमेंसे एक। सम्भवतः ईसापूर्व ८ वीं शतीमें विद्यमान।—अनु०

२. पिंडार (Pindar)—ग्रीकका महान् गीत-काव्यकार। ५२२-४४२ ई० पू० में विद्यमान। इसने लैटिन कविता और अंग्रेजी ओड्स कविताओंको बहुत प्रभावित किया है।—अनु०

प्रसूत बौद्धिक सत्य और कलात्मक सत्यका अन्तर उस समय तक लक्षित नहीं किया जा सका था। इसलिए उसने रचनात्मक साहित्यसे प्राप्त मानसिक चित्रों को अवास्तविक और इसीलिए नैतिक सन्देश देनेमें असमर्थ मानकर व्यर्थ घोषित किया।

रचनात्मक साहित्यकी रचना-विधिसे सीधे सम्बद्ध इस 'अवास्तविकता'की त्रुटिके साथ ही प्लेटोने एक अन्य त्रुटिका भी उल्लेख किया जो यद्यपि रचना-विधिसे प्रत्यक्षतः उद्भूत नहीं होती फिर भी उससे प्रेरित अवश्य होती है। जीवनका प्रभावोत्पादक चित्रण करनेके उद्देश्यसे कवि—प्लेटो मुख्यतः ऐटिक[1] (Attic) दुखान्त नाटक रचनेवाले कवियोंको दृष्टिमें रखकर विचार कर रहा है—मजबूरन अच्छी घटनाओं और सामान्य पात्रोंकी तुलनामें बुरी घटनाओं और आवेगमय पात्रोंको चुनना पसन्द करता है। क्योंकि 'उत्तेजक प्रवृत्तिका पात्र एकरस और विषम दोनों ही स्थितियोंमें चित्रित किया जा सकता है जबकि बुद्धिमान और शान्त प्रवृत्तिका पात्र जिसमें शायद ही कभी चारित्रिक परिवर्तन होता हो, न तो सरलतासे चित्रित किया जा सकता है न चित्रित किये जानेपर सहज ही ग्राह्य होता है"। ऐसी स्थितिमें उसने सोचा कि रचनात्मक साहित्यका अध्ययन मानव स्वभावके आवेगमय तत्त्वको उभारेगा और बौद्धिक तत्त्वको दबा देगा। वह लिखता है—"हमारी आत्माका वह अंश, जो हमारी दुःखद परिस्थितियोंमें दबा दिया जाता है और जो मुक्त रूपसे रोकर और चीखकर अपनी पीड़ा व्यक्त करना चाहता है, कुछ इस ढंगका बना होता है कि उसे इन आवेगमय अनुभूतियोंसे सन्तोष प्राप्त होता है। कवि लोग प्रायः इसी अंश-को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। साथ ही हमारी आत्माका वह अंश, जो आदत और बुद्धिके द्वारा नियन्त्रित न होनेके कारण स्वभावतः उत्तम होता है, यह मानकर कि जिन दुःखद अनुभवोंकी वह भावना कर रहा है वे उसके अंग नहीं हैं और ऐसे दूसरे लोगोंके, जो अच्छे आदमी समझे जाते हैं, असामयिक

---

[1] ऐटिक—एथेन्सके आस-पास बोली जानेवाली एक प्राचीन ग्रीक बोली। मुहावरेके रूपमें इसका प्रयोग सीधी स्पष्ट और प्रसन्न-शैलीके लिए भी होता है। श्रेष्ठ ग्रीक लेखकोंकी यह विशिष्टता मानी जाती है।—अनु०

दुःखोंके साथ सहानुभूति दिखाना कोई लज्जाकी बात नहीं है, इस भावात्मक और आवेगमय अंशसे अपना नियन्त्रण हटा लेता है। इसके विपरीत काव्यसे जो सुखद अनुभव वह प्राप्त करता है उसे इतना लाभप्रद और महत्त्वपूर्ण समझता है कि सब मिलाकर काव्यका तिरस्कार करके वह इस आनन्दसे वंचित नहीं होना चाहता। क्योंकि बहुत कम लोग यह अनुभव कर पाते हैं कि जिस अंशतक हम दूसरोंके भावावेगों और अनुभूतियोंके सहभागी होते हैं उसी अंशतक हमारी भावनाओंका स्वरूप भी उनसे प्रभावित होता है। चाहे लोग अनुभव न करें पर होता ऐसा ही है क्योंकि जब हम दूसरोंके दुःखमें सहभागी होकर अपनी दया-भावनाको विकसित कर लेते हैं तब अपनी ही दुःखद घड़ियोंमे उसपर नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सकते"।

प्लेटोकी इस समीक्षाके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि इसमें महान् साहित्य और कला-कृतियोंकी रचनाके लिए आवश्यक तत्त्वों और उपादानोंको बहुत ही सुन्दर ढंगसे समाविष्ट किया गया है। साथ ही हम यह भी कह सकते है कि इसमें कलात्मक अभिव्यक्तिके स्वरूप और प्रभावको बिल्कुल नहीं समझा गया है। नैतिक मूल्यों और कलाकृतियोंकी अन्योन्याश्रयिताको कला-रचनाका मूल सिद्धान्त मानना तथा सत्यको कवियों और कलाकारोंकी रचनाओंकी श्रेष्ठताके अन्तिम मानदण्डके रूपमें प्रस्तुत करना, ये दोनों ही बातें आधुनिकतम चिन्तनसे पूर्णतया मेल खाती हैं। इसके साथ ही रचयिताकी मानसिक प्रक्रियाके सूक्ष्म विश्लेषणके आधारपर वैज्ञानिक रचना-प्रणाली और कलात्मक रचना-पद्धतिका अन्तर पूरी तरह प्रकट किया जा सका है। यही नहीं कवियों और उपन्यासकारों द्वारा व्यक्त जीवन-चित्रोंकी सत्यता तथा उनकी मार्मिक प्रभाव डालनेकी क्षमताका मूल्य और महत्त्व भी आँका गया है। प्लेटोके समीक्षा-सिद्धान्तोंसे ही मनोवैज्ञानिक ज्ञानको क्रमशः अधिक स्वीकृति देनेकी बातका महत्त्व भी प्रकट होता है जो आधुनिक युगकी प्रमुख विशेषता है, क्योंकि इसीके अभावमें वह कलाके सुन्दरतम तत्त्वोंके प्रति अन्धा बना रहा, साधारण त्रुटियोंको बढ़ाकर दिखाता रहा और अन्ततः उसने ग्रीक-साहित्यकी श्रेष्ठ कृतियोंको महत्त्वहीन और निरर्थक प्रमाणित किया, जिनकी आज सारा संसार प्रशंसा करता है।

अरस्तू[1] दूसरा महान् विचारक था जिसने कलात्मक और साहित्यिक कृतियों की रचना-प्रक्रियाकी परीक्षा की। उसे प्लेटो द्वारा निर्णीत तथ्योंसे लाभ उठानेका पूरा अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, वह स्वयं एक बहुत बड़ा विधायक था। उसने मानव तथा प्रकृति दोनों हीसे सम्बन्धित सभी प्रकारकी अभिव्यक्तियोंको परखनेके लिए जो विशाल योजना बनाई उसमें इन कलाकृतियों और इनकी रचना-प्रक्रियाओंकी समीक्षाके लिए पृथक् आधार प्रस्तुत किया। ललित कलाओंके सम्बन्धमें उसका प्रसिद्ध प्रबन्ध 'काव्यके सम्बन्धमें' (Concerning Poetry) सर्वविदित है। इसी ग्रन्थमें उसके कला-समीक्षाके सिद्धान्त स्पष्ट हुए हैं। ये संक्षिप्त अपूर्ण और बिखरे हुए हैं और ऐसा लगता है कि इसमें जो निष्कर्ष सन्निहित हैं उसे प्राचीन संसारने पूर्णतः नहीं समझा है, फिर भी यह एक ऐसा आधार है जिसपर समस्त आधुनिक समीक्षा निर्भर करती है। ऐसी स्थितिमें आधुनिक युगमें पूर्णतः स्वीकृत समीक्षा-सिद्धान्तोंकी विस्तृत जानकारीके लिए उसके द्वारा निर्णीत प्रमुख निष्कर्षोंका ज्ञान आवश्यक है।

अरस्तूने, सामान्यतः, सभी कलाओं और रचनात्मक साहित्य-कृतियोंको अनुकृति-प्रक्रिया या व्यक्तकी पुनराभिव्यक्ति माना है। अनुकरणकी जिस आदिम प्रवृत्तिके अनुसार बालक अपने परिवारके लोगोंसे भाषा और आचरण सीखता है, उसने कला-रचनाके मूलमें भी उसी प्रवृत्तिको कार्य करते हुए लक्ष्य किया। उसने कला-रचनाका लक्ष्य आनन्द-प्रदान करना बताया। दुःखान्त नाट्य-रचना (*tragedy*)को काव्यका चरम विकसित रूप स्वीकार करते हुए, (काव्यके अन्तर्गत उसने सभी रचनात्मक साहित्यकी गणना की है।) उसने उसके वर्ण्यविषयके मूल-घटकोंका विश्लेषण किया। ऐसा करते हुए उसने उन विशिष्ट तत्त्वोंको अलग किया जो कम या अधिक मात्रामें सभी रचनात्मक साहित्य-कृतियोंमें पाये जाते हैं। उसने कला-कृतियोंमें

---

१. अरस्तू (Aristotle) ३८४-३२२ ई० पू० ग्रीकका महान् दार्शनिक विचारक। प्लेटोका शिष्य। प्रारम्भमें मेसीडोनके फिलिपने इसे अपने पुत्र अलेक्जेण्डरका शिक्षक नियुक्त किया था। बादको इसने एथेन्समें अपना स्कूल स्थापित किया था। इसका पाण्डित्य असीम माना जाता है। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शन, भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र, राजनीति, काव्यशास्त्र आदि अनेक ज्ञान-क्षेत्रोंमें इसका प्रवेश सर्व स्वीकृत है।—अनु०

इनकी स्थिति और स्वरूप—इनकी पृथक् स्थिति, इनकी परस्पर सापेक्ष्य स्थिति, और पूरी रचनाके सन्दर्भमें इनकी स्थिति—पर ही कृति-विशेषका महत्त्व और मूल्य आधृत माना। सभी प्रकारके रचनात्मक साहित्यमें पाये जानेवाले ये तत्त्व है—(क) 'वस्तु' या घटना-सूत्र (ख) 'चरित्र' या कृतिमें वर्णित पात्रोंका गुण वैशिष्ट्य, (ग) अभिव्यक्ति गरिमा (diction) या विचारोंकी साहित्यिक अभि व्यक्ति या चरित्रोंकी वाणी, (घ) स्थायी भाव (sentiment) या पात्रोंके क्रिया-कलापको नियन्त्रित करनेवाली मनोभूमि (ङ) अभिनय, और (च) संगीत-तत्त्व। इस विश्लेषणमें दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली यह कि मात्र दुःखान्त नाटकोंको दृष्टिमें रखकर विचार करनेके कारण अरस्तूने दो ऐसे तत्त्वोंकी भी गणना कर ली है (अन्तिम दो अभिनय और संगीत-तत्त्व) जो साहित्य रचनाके मूलभूत तत्त्व नहीं हैं। दूसरी यह कि किसी साहित्य-कृतिके बाह्य रूपको दृष्टिमें रखकर उसकी परीक्षा करनेका यह ढंग उस विशेष मानदण्ड का सूचक है जिसके आधारपर वह आलोच्य कृतिका मूल्याङ्कन करना चाहता है। प्रश्न रूपमें उपस्थित करनेपर वह विशेष मानदण्ड यों होगा—"क्या यह आलोच्य कृति जिस साहित्य-रूपसे सम्बद्ध है उसकी विधिका अनुसरण करती हुई और कलाके व्यापक उद्देश्य—आनन्द प्रदान करना—की पूर्ति करती हुई सुन्दरतम ढंगसे रची गई है ?" अरस्तूने अपने विश्लेषणके दौरानमें साहित्यिक-रचनाके कुछ कम महत्त्वके तत्त्वोंपर भी विचार किया है। उदाहरणके लिए—वथावस्तुका संघटन, इसका विकास और समाधान तथा प्रासंगिक कथाओंका संघटन आदि। इनपर विचार करते हुए उसने जिस प्रकारकी शब्दावलीका प्रयोग किया है आज भी लोग उसी प्रकारकी शब्दावलीका प्रयोग उसके द्वारा प्रयुक्त अर्थमें ही करते हैं। उसने पृथक् काव्य-रूपोंकी दृष्टिसे दुःखान्त और सुखान्त नाटकों तथा आख्यानक काव्यों (Epic)की सापेक्षिक विशेषताओं और रचना-तत्त्वोंकी तुलना करके उनका अन्तर भी स्पष्ट किया है।

अपनी इस रूप-निष्ठ समीक्षाके अन्तर्गत ही अरस्तू यह भी बताता है कि हमें आख्यानक काव्यको दुःखान्त नाटकके रूपमें नहीं लिखना चाहिये। आधुनिक मुद्रण-कलाके विकासके साथ विकसित होनेवाले अनेक काव्य-रूपोंकी बाह्य-विशेषताओंकी विविधताको देखते हुए इस प्रकारकी सूचनायें और नियम

आज यथ और महान् न प्रतीत होते हैं फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि इन बाह्य रूपात्मक विशेषताओंकी जानकारी साहित्य-सौन्दर्यके आवश्यक तत्त्वोंको लक्ष्य करनेमें आज भी हमारे लिए उपयोगी है। और सच्ची बात तो यह है कि आधुनिक समीक्षा इन्हीं नियमोंके प्रकाशमें सम सामयिक साहित्य-को परखते हुए आरम्भ होती है। यह इन नियमोंकी अपूर्णताके बोधका ही परिणाम है---जिसे कि सत्रहवीं शतीके समीक्षकोंने लक्ष्य किया था—कि समीक्षा-के क्षेत्रमें महान् प्रगतिकी जा सकी है जिसका अगले अध्यायमें हम रेखाङ्कन करेंगे।

अरस्तूकी देन इससे भी अधिक है। इसे आकस्मिक ही कहा जायगा कि उसने रचनात्मक साहित्यकी रचना-विधिके सम्बन्धमें प्लेटोकी उन भ्रान्त धारणाओंका निराकरण किया है जिनके कारण उसने आश्चर्यजनक त्रुटियाँ की है। ऐसा करनेमें उसने कुछ ऐसे कला-सिद्धान्तोंकी स्थापना की है जो उतने ही शाश्वत और महत्त्वपूर्ण हैं जितना प्लेटोका कला और नैतिकताके अन्योन्याश्रयी होनेका सिद्धान्त। प्लेटोने कलाकृतियोंपर अवास्तविक होनेका जो आरोप लगाया था उसके उत्तरमें अरस्तूने कहा कि रचनात्मक साहित्यमें बिम्बित जीवनके चित्र इस अर्थमें अवास्तविक नहीं हैं कि वे जीवनकी तथ्यपरक घटनाओंके विरोधी हैं वरन् वे इस अर्थमें अवास्तविक हैं कि उनका सत्य वैज्ञानिक सत्यकी तुलनामें भिन्न प्रकारका होता है। प्लेटो, साहित्यके उस तथ्यपरक रूपसे अभिभूत होनेके कारण, जिसमें वह मात्र सूचना-सूत्रके रूप में प्रकट होता है, रचनात्मक साहित्य और सामान्य साहित्यमें अन्तर न कर सका। अरस्तूने यह स्पष्ट किया कि इन दोनों प्रकारके साहित्योंकी सत्यताका मानदण्ड एक ही नहीं हो सकता। इतिहासको साहित्यके उन रूपोंका प्रतिनिधि मानकर जिनमें यथार्थ तथ्योंका सर्वाधिक महत्त्व होता है और काव्यको उन रूपोंका प्रतिनिधि मानकर जिनमें तथ्यसे अधिक रचनाविधिको महत्त्व दिया जाता है, वह कहता है—

"कविका कार्य यह बताना नहीं है कि क्या घटित हुआ है वरन् यह संकेत करना है कि क्या घटित हो सकता था और भविष्यकी सम्भावना या अतीतकी घटनाओंके सहज परिणाम रूपमें क्या सम्भाव्य है? इतिहासकार और कविके

सत्यमें इस बातसे अन्तर नहीं पड़ता कि एक छन्दका प्रयोग करता है और दूसरा नहीं। हिरोडोटस[1] (Herodotus) की रचनाओंको इतिहासकी पूरी रक्षा करते हुए छन्दबद्ध किया जा सकता है। दोनोंका अन्तर इस बातमें है कि एक (इतिहासकार) यह बताता है कि क्या घटित हुआ है और दूसरा (कवि) यह बताता है कि क्या घटित हो सकता है? अतः काव्यका सत्य इतिहासकी तुलनामें अधिक व्यापक होता है और उसका उद्देश्य अधिक ऊँचा होता है। काव्य विश्वजनीन सत्यको अभिव्यक्ति देता है और इतिहास स्थानीय तथा विशिष्ट घटना-सत्यको"।

अपने इन महत्त्वपूर्ण वाक्योंमें अरस्तूने सदाके लिए रचनात्मक साहित्यकी रचना-विधिकी विशेषतायें निर्धारित कर दी हैं और साहित्यके अन्य रूपोंसे उसका अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है।

अरस्तूने पूरी सफलताके साथ प्लेटोके दूसरे आरोपका भी निराकरण किया है। प्लेटोका दूसरा आरोप यह था कि सफल कृति होनेके लिए रचनात्मक साहित्यको संवेदनाप्रवण होना ही पड़ता है और संवेदनात्मक होनेके कारण वह मनुष्यके उच्चतर बौद्धिक तत्त्वोंके स्थानपर भावात्मक और संवेगमय तत्त्वोंका पोषण करता है। दुःखान्त नाटक भय और कातरता इन दो विशिष्ट संवेगोंको उत्तेजित करते हैं। इस कथनको सूत्र रूपमें स्वीकार करते हुए वह प्लेटोके उक्त दूसरे आरोपका उत्तर देता है। अपने तर्कको पुष्ट करनेके लिए उसने चिकित्सा जगत्से एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। काव्यमें भावावेगोंको उद्‌बुद्ध करनेकी जो क्षमता होती है वह भावात्मक तत्त्वको शाश्वत रूपसे पोषित नहीं करती वरन् भावातिरेकको दूर करके मनुष्य-स्वभावको निर्मल बना देती है। जिस प्रकार औषधि ग्रहण करनेसे मनुष्यका शरीर-यन्त्र शुद्ध और निर्मल हो जाता है उसी प्रकार मंचपर दुखान्त नाटकोंके अभिनय-दर्शनसे उद्दीप्त भावना दर्शकोंके मनोयन्त्रको निर्मल कर देती है। वह लिखता है—

"दुःखान्त नाटक एक महत् गम्भीर और पूर्ण घटनातत्त्वकी अनुकृति है। यह अनुकरण सर्वांग सुन्दर एवं अलंकृत भाषामें किया जाता है इसलिए प्रभावपूर्ण होता है। यह अनुकृति मात्र कथित नहीं होती प्रत्यक्ष अभिनीत होती है

१. हिरोडोटस (Herodotus) ४८०-४२५ ई० पूर्व। प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार। इसे ग्रीक-इतिहासका जनक माना जाता है।—अनु०

और इसमें व्यक्त भय और कातरताकी भावना दर्शकोंकी इसी कोटिकी भावनाओंको शुद्ध और निर्मल कर देती है।"

इस प्रकार अरस्तू भावप्रवणताके अर्थ और मूल्यकी व्याख्या करता है और उसका औचित्य सिद्ध करता है। वस्तुतः, यदि हम एक क्षणके लिए सोचें तो हम अपने नित्य प्रतिके अनुभवमें उस सत्यका अनुभव कर सकेंगे जिसे ग्रीकके महान् विचारकने उक्त शब्दोंमें व्यक्त किया है। किसी दुःखान्त नाटकका अभिनय देखनेके पश्चात् जिस अनुभूतिसे अभिभूत होकर हम नाट्यशालासे बाहर निकलते हैं या एक प्रभावशाली और कलात्मक उपन्यासको समाप्त करनेके बाद जिस अपेक्षाकृत अनिश्चित संवेदनाका अनुभव करते हैं, यदि हम उसपर ध्यान दें तो पायेंगे कि दोनों स्थितियोंमें हमारा मन थोड़ा हलका हो गया रहा होगा। नाटककार या उपन्यासकार द्वारा कल्पित पात्रोंके प्रति हमारे मनमें जो सहानुभूति जाग्रत हो गई होती है उसमें लीन होकर कुछ घण्टोंके लिए हम अपनी निजी कठिनाइयों और विडम्बनाओंको भूल जाते हैं। यदि इस अनुभूतिको हमने शब्दोंमें व्यक्त किया होता तो अपने-आपसे यों कहते—"ठीक ही तो है, सब मिलाकर हमारी कठिनाइयाँ इतनी बुरी नहीं है जितनी इन पात्रोंकी"। अपने और दूसरोंके जीवनकी परिस्थितियोंकी तुलनाके आधार-पर उद्भूत यह भावना हमें अपनी नियति और भाग्यसे समझौता करनेकी प्रेरणा देती है और सम्भवतः हमें पूरे मानव जीवनको भली प्रकार समझनेमें सहायता प्रदान करती है।

उपर्युक्त दो महान् विचारकोंके मतान्तर्गत प्राचीन संसारने साहित्यके सन्दर्भमें जो कुछ सोचा था उसका सर्वाधिक सत्य और महत्तम अंश आ जाता है। प्लेटो और अरस्तूके बाद भी ग्रीक और रोम दोनोंमें ही अनेक लेखक हुए जिन्होंने साहित्यके सम्बन्धमें विचार किया किन्तु वे उपर्युक्त दोनों महान् लेखकों द्वारा निर्धारित सामान्य सिद्धान्तोंमें कुछ भी न जोड़ सके। महान् लेखकों और कवियोंकी बाह्य विशेषताओं—उदाहरणार्थ रचना-शैली, सहज और अलंकृत भाषाका प्रयोग, बोली आदि—के अध्ययनके सीमित अर्थमें साहित्य-समीक्षाका व्यवहार विशेष रूपसे सिकन्दरिया जैसे महान् साहित्यिक केन्द्रमें रहनेवाले ग्रीक विद्वानों द्वारा होता रहा। इन विद्वानोंने इसी पद्धतिपर

अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन भी किया। जैसा कि हमने पहले ही लक्ष्य किया है इस सीमित अर्थमें—वस्तुतः प्राचीन संसारमें मात्र इसी अर्थमें साहित्य-समीक्षाका प्रयोग किया जाता था—साहित्य-समीक्षाका उद्‌भव उन्हीं विद्वानोंकी कृतियोंके माध्यमसे ३००से लेकर १५० ईस्वी पूर्वके बीच हो गया था। 'काव्यमें उदात्त तत्त्व'पर प्रसिद्ध प्रबन्ध प्रस्तुत करनेवाला आलोचक भी—जिसे आमतौरपर लाञ्जाइनस (Longinus) नामसे जाना जाता है और जो ईसाकी तीसरी शतीमें विद्यमान था—ऐसा कोई आधार नहीं देता जिससे हम विश्वास कर सकें कि उसने प्लेटो और अरस्तू द्वारा निर्धारित उन उदार और महत्त्वपूर्ण समीक्षा-सिद्धान्तोंकी गहराई और महत्ताको समझा था जिनपर उनकी समीक्षाका वास्तविक मूल्य निर्भर करता है और जिनमें प्राचीन संसारकी समीक्षाका महत्तम और सुन्दरतम तत्त्व सन्निहित और व्यक्त हुआ है। यह अवश्य है कि उसने सफल साहित्यिक रचनाके कतिपय पहलुओंसे सम्बद्ध विचारोंको कुछ आगे बढ़ाया है। प्लेटो और अरस्तू-प्रतिपादित समीक्षा-सिद्धान्त अपूर्ण और अस्पष्ट है फिर भी उनके सिद्धान्तोंमें ही प्राचीन जगत्‌के सर्वश्रेष्ठ युगका वह चिन्तन समाविष्ट है जो आधुनिक विचारधारासे भी मेल खाता है। इसके अतिरिक्त इन्हीं अपूर्ण और अस्पष्ट सिद्धान्तोंको आधार मानकर ही विगत कई शतियोंमें साहित्य-समीक्षा आगे बढ़ सकी है।

प्राचीन रोमके महान साहित्यकी रचना करनेवाले लेखकोंमें कुछ अवश्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने साहित्यके रूप और रचना-विधिपर विचार किया है। लेकिन उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सिसरो[1] और क्यून्टिलियन[2] भी प्लेटो और अरस्तू द्वारा साहित्य और कला-कृतियोंके कुछ अस्पष्ट पहलुओंपर की गई आलोचनाको ही

१. सिसरो (Cicero) १०६-४३ ई० पू०, रोमका प्रसिद्ध दर्शन और विधि-विज्ञानवेत्ता। इसका अधिकांश जीवन राजनीतिक संघर्षोंमें व्यतीत हुआ था। दर्शन, राजनीति, काव्यशास्त्र और विधिशास्त्र इसके अध्ययनके विषय रहे हैं।—अनु०

२. क्यून्टिलियन (Quintilian) ३५ ई०-१०० ई०, रोमका प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री। इसकी महान् कृति 'डी इन्स्टीट्यूशने ओरेटोरिया' (*De Institutione Oratoria*) है। इसके दसवें खण्डमें ग्रीक और रोमन साहित्यका इतिहास दिया गया है।—अनु०

पुनः उद्‌धृत करके रह गए हैं। उससे आगे नहीं बढ़ सके हैं। होरेस[१] द्वारा प्रस्तुत आलोचना—'काव्य-कला'—(Art of Poetry) में भी या तो अरस्तूके कथन ज्योंके त्यों ले लिए गए हैं या नित्य प्रतिके सामान्य बुद्धिमत्ता-पूर्ण कथनोंको उद्‌धृतकर दिया गया है। यह बुद्धिमत्तापूर्ण आलोचनात्मक उक्तियाँ बड़ी ही सफाईके साथ प्रसन्न शैलीमें प्रस्तुत की गई है जो एक इतने बड़े पद्य-रचयिताके लिए स्वाभाविक ही है। लेकिन आलोच्य विषयके सम्बन्धमें कोई मौलिक बात वह नहीं कह सका है।

---

१. होरेस (Horace) ६५–८ ई० पू० प्रसिद्ध रोमन कवि। 'आर्स पोयटिका' (*Ars Poetica*) इसकी प्रसिद्ध रचना है। इसे भी अपने जीवनमें राजनीतिक उथल-पुथलका शिकार होना पड़ा था।—अनु०

परिशिष्ट

प्राचीन भारतीय आलोचना

प्राचीन भारतीय आलोचना अत्यन्त समृद्ध और सूक्ष्म है 'काव्य'के सम्बन्धसे जिस प्रकार का चिन्तन-अनुशीलन, विचार-विमर्श और खंडन-मंडन इस देशमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। "काव्य क्या है ?" "उसका उद्देश्य क्या है ?" "उसकी रचनाको संभव बनानेवाले तत्त्व कौन-कौनसे हैं ?" "उसकी आत्मा क्या है ?" "उससे प्राप्त आनन्द किस कोटिका है ?" आदि अनेक प्रश्नो पर भारतीय चिन्तकोंने बड़ी ही सूक्ष्मता और सावधानीसे विचार किया है। इन प्रश्नों पर निरन्तर विचार-विमर्शके परिणामस्वरूप ही भारतीय आलोचनाके क्षेत्र में छः प्रमुख सम्प्रदायों—**रस-सम्प्रदाय** (भरतमुनि), द्वितीय शती, **अलंकार-सम्प्रदाय** (भामह) षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध, **रीति-सम्प्रदाय** (वामन), अष्टमशती उत्तरार्द्ध, **वक्रोक्ति-सम्प्रदाय** (कुन्तक), दशम शतीका उत्तरार्द्ध, **ध्वनि-सम्प्रदाय** (आनंदवर्धन), नवम शतीका उत्तरार्द्ध, **औचित्य-सम्प्रदाय** (क्षेमेन्द्र), एकादश शतीका उत्तरार्द्ध—का विकास हुआ। इन सभी सम्प्रदायोंके प्रवर्त्तक आचार्यों तथा उनके अनुयायियोंने अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्याख्या व्यापक आधार पर की और यथाशक्ति अन्य सम्प्रदायोंकी मान्यताओंको अपनी सीमामें समेटनेकी चेष्टा की। इन सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा काव्यकी आत्माके अन्वेषणकी चेष्टाके परिणामस्वरूप हुई थी। इसलिए इन सभी के प्रवर्त्तक आचार्योंने अपनी मान्यताओंको काव्यकी आत्माके रूपमें उपस्थित किया। भरतमुनिसे लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक अर्थात् लगभग ईसाकी दूसरी शतीसे लेकर १७ वीं शतीके मध्य-भाग तक काव्यका अद्भुत चिन्तन इस देशमें हुआ। इसके अनुशीलनसे जो सर्वमान्य सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं वे निम्नलिखित हैं—

काव्यमें मूल तत्त्व **रस** है। रस ही काव्यकी आत्मा है। 'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' (अग्निपुराण), 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः

प्रवृत्ते (नाट्यशास्त्र) आदि उक्तियाँमें इसी तथ्यकी ओर संकेत किया गया है। **अलंकार**, काव्यके सौन्दर्यमें वृद्धि करनेवाले हैं। ये शब्द और अर्थके अस्थिर धर्म हैं। इन्हें रसका उपकारक कहा जा सकता है। 'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्' कहकर साहित्य-दर्पणकारने अलंकारोंको इसी रूपमें स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट, लोचनकार अभिनवगुप्त तथा राजशेखर आदिने भी काव्यमें अलंकारोंको यही स्थान प्रदान किया है। **'रीति'** पद-रचना वैशिष्ट्यको कहते हैं। इसके चार प्रकार मान्य हैं—**'वैदर्भी'**, **'गौड़ी'**, **'पांचाली'**, तथा **लाटिका'**। 'वैदर्भी' रीतिमें माधुर्य गुणका प्राधान्य होता है। 'गौड़ी'में ओज और 'पाञ्चाली'में सौकुमार्यका। 'पांचाली' वैदर्भी और गौड़ीके बीचकी रीति है। इसी प्रकार 'लाटी'में 'वैदर्भी' और 'पांचाली' दोनोंकी विशेषतायें सन्निहित होती हैं। रीतियाँ गुणोंपर आश्रित हैं। इन्हें भी 'रस'का उपकारक कहा गया है। 'उपकर्त्री रसादीनाम्'। 'गुण' काव्यके नित्य धर्म हैं। इनका कार्य रसोंका उत्कर्षवर्धन है। 'माधुर्य', 'ओज', 'प्रसाद' ये तीन गुण प्रधान माने जाते हैं। करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त-रसमें माधुर्य गुण उपकारक होता है। वीर, रौद्र और वीभत्स रसमें ओज गुण उपकारक होता है। प्रसाद गुण सभी रसोंका उपकारक है। **'वक्रोक्ति'** भणितिकी उस भंगिमा को कहते हैं जो विदग्ध कवियोंके काव्यमें चमत्कार उत्पन्न कर देती है। 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते'। उक्तिकी वक्रताको महत्त्व देते हुए भी वक्रोक्तिकारने 'रस'की महिमा स्वीकारकी है। उन्होंने 'प्रबन्ध-वक्रता'के अन्तर्गत रसको भी स्वीकार किया है। रसात्मकता भी एक प्रकारकी चमत्कारिता ही है। अतः रस-चमत्कार वक्रोक्तिका विरोधी नहीं। वक्रोक्तिको सीमित अर्थमें एक अलंकार मान लेने पर भी अन्य अलंकारोंकी भाँति इसे रसका उपकारक माना जा सकता है। **ध्वनि-सम्प्रदाय** प्रतीयमान या व्यंजित अर्थको अधिक महत्त्व देता है। ध्वनि तीन प्रकारकी मानी जाती है—**वस्तुध्वनि**, **रसध्वनि** और **अलंकारध्वनि**। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ मानी गई। ध्वनि-सिद्धान्तके व्याख्याता आनन्दवर्धन 'रस'को भी प्रतीयमान या व्यंजित मानते हैं। ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापनासे रस की महिमामें किसी प्रकारकी कमी नहीं आई। काव्यकी आत्मा है 'ध्वनि' और ध्वनिमें सर्वश्रेष्ठ है—रसध्वनि। इस प्रकार ध्वनिवादीकी दृष्टिमें

भी रस ही काव्यका मूल-तत्त्व है। '**औचित्य-सम्प्रदाय**'के अनुसार काव्यके सौन्दर्यका आधार औचित्य है। अनौचित्यसे रसभंग हो जाता है। इसी प्रकार अलंकार, गुण आदि-की सुन्दरताका रहस्य औचित्य ही है। इस सम्प्रदायका अनौचित्यसे विरोध है, अन्य किसी सम्प्रदायसे नहीं। इससे भी रसकी महिमामें किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं होती। दोष, रसके अपकर्षक होते हैं। इसीलिए आचार्य मम्मटने 'तददोषौ' कहकर काव्य को दोष-रहित बनानेका निर्देश किया है। तात्पर्य यह कि भारतीय काव्य-चिन्तन, 'रस'की महत्ताका ही प्रतिपादन करता है। यदि हम काव्यको पुरुषके रूपमें कल्पित करें तो 'शब्द' और 'अर्थ' उसके शरीर होंगे। 'रस-तत्त्व' उसकी आत्माके रूपमें मान्य होगा। माधुर्य आदि गुण उसके नित्य धर्म होंगे। अलंकार कुंडल आदि अलंकारोंकी भाँति उसकी शोभा-वृद्धिमें सहायक होंगे। रीतियाँ उसके शरीरकी रचनाके रूपमें मान्य होंगी और दोष, पुरुष-शरीरके काणत्व आदि दोषोंकी ही भाँति उसके सौन्दर्यके अपकर्षक होंगे। अध्यात्म-प्रधान इस देशमें 'आत्मा'को जानने और उपलब्ध करनेका प्रयत्न ही महनीय माना गया है। इसीलिए काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परामें भी काव्यकी 'आत्मा'को ही जानने और समझनेका प्रयत्न किया गया है।

काव्यकी आत्माके निर्णयके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आलोचना '**काव्यके हेतु**'—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—'**काव्यके प्रयोजन**'—पुरुषार्थोंकी सिद्धि तथा यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल-निवारण, परमानन्दकी सद्यः अनुभूति कान्ताके समान उपदेश-दान—तथा '**काव्यके भेद**'—**श्रव्य** (महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक) और **दृश्य** (रूपक, उपरूपक)—की भी विवेचना प्रस्तुत करती है। यही नहीं उसमें कवि और आलोचककी कोटियों और गुणोंका निर्धारण भी किया गया है। कवियोंकी अनेक कोटियाँ मान्य हैं, जिनमें **शास्त्र-कवि**, **काव्य-कवि** और **उभय-कवि** ये तीन प्रमुख हैं। इसी प्रकार आलोचकोंकी चार प्रमुख कोटियाँ मान्य हैं—**अरोचकी**, **सतृणाभ्यवहारी** (स्थूल आलोचक), **मत्सरी**, तथा **तत्त्वाभिनिवेशी**। इनमें प्रथम और अन्तिम ही श्रेष्ठ माने गए हैं। भारतीय आलोचना कवि और आलोचकमें दो भिन्न प्रकारकी प्रतिभाएँ स्वीकार करती है। कविमें कारयित्री प्रतिभा होती है और आलोचकमें भावयित्री।

प्राचीन भारतीय आलोचनामें समीक्षाकी व्यावहारिक पद्धतिका उचित

विकास नहीं हुआ था। सैद्धान्तिक ग्रन्थोंकी रचना करते समय आचार्य सिद्धान्त-निरूपणके क्रममें उत्कृष्ट काव्य-कृतियोंके उद्धरण प्रस्तुत करते थे। निकृष्ट रचनाएँ दोष-प्रकरणमें उद्धृत की जाती थीं। व्यावहारिक समीक्षा टीका, तिलक, लोचन, भाष्य आदि लिखकर की जाती थी। इनमें गुण-दोष-विज्ञप्तिके अतिरिक्त कभी-कभी मौलिक सिद्धान्तोंकी उद्भावना भी की जाती थी।

प्राचीन भारतीय आलोचनाके स्वरूप और प्रतिपाद्यपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे उसकी कतिपय विशेषतायें लक्ष्य की जा सकती हैं। भारतीय आलोचना अत्यन्त विशद, सूक्ष्म और अपनेमें पूर्ण है। वह दर्शन और अध्यात्म से प्रभावित है। उसमें व्यक्ति और वस्तुके बीच सह-अनुभूतिकी उस अन्तर्भूमिको महत्त्व दिया गया है जो साधारणीकृत हो सकती है। इसलिए नितान्त वैयक्तिकता उसमें उपेक्षित है। उसका विकास लक्ष्य-ग्रन्थोंकी उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूपमें भी हुआ है। उसमें सामाजिक आधार नितान्त उपेक्षित नहीं है। भरतके नाट्यशास्त्रमें 'लोक' को ही प्रमाण माना गया है। औचित्य सम्प्रदायका औचित्य-निर्णय लोक-दृष्टि-सापेक्ष है। रस-सिद्धान्तका विभाव-पक्ष अपने व्यापक रूपमें समस्त गोचर जगत् एवं जागतिक व्यापारको स्वीकार कर लेता है। 'रसाभास' की मान्यता तो सामाजिक मर्यादाके अतिक्रमणपर ही आधृत है। इसीलिए उपनायक, प्रतिनायक, तथा गुरु-पत्नी एवं मुनि-पत्नी सम्बन्धी रतिको शृंगाराभास कहा गया है। भारतीय आलोचककी दृष्टि नैतिकता एवं शिवताको उचित महत्त्व देती है। प्राचीन पाश्चात्य समीक्षाकी तुलनामें वह अधिक समुन्नत एवं सन्तुलित है। समस्त प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त वास्तवमें प्लेटो और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित मान्यताओंपर ही आधृत है। प्लेटोका काव्य-विषयक दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। वह 'कला' को अनुकृतिकी अनुकृति मानकर हेय दृष्टिसे देखता है। वह नैतिकताको अधिक महत्त्व देता है। उसकी दृष्टिमें काव्य-कला पाठकोंकी वासनाको उद्दीप्त करके उन्हें विषयके पंकमें गिरा देती है। वह सत्यसे बहुत दूर एक मायामय एवं अवास्तविक संसारकी सृष्टि करनेवाली है। प्राचीन भारतीय आलोचना शिवत्वकी भावना स्वीकार करते हुए भी जीवनमें काव्यको महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। काव्यको कान्ता-सम्मत उपदेश देनेवाला माना गया है। कवित्व-शक्तिको दुर्लभ कहा गया है। प्लेटोकी अपेक्षा

अरस्तूके विचार अधिक सन्तुलित हैं। उसकी स्थापनायें भारतीय मान्यताओंके अधिक निकट हैं। वह काव्यकलाको मानवीय क्रिया-व्यापारोंकी आदर्शीकृत अनुकृति मानता है। भारतीय आलोचना नाटकों (रूपक) में मानवीय क्रिया-व्यापारोंके अनुकरणको महत्त्व देती है। साथ ही वह नायकमें उच्चतम गुणोंकी स्थिति दिखाकर आदर्शीकृत अनुकरणके सिद्धान्तको भी स्वीकार कर लेती है। अरस्तू महाकाव्य (epic) की तुलनामें नाटकको अधिक महत्त्व देता है। भारतीय आलोचना भी 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्'के अनुसार काव्योंमें नाटकको ही रमणीय मानती है। अरस्तू दुःखान्त नाटक (tragedy) को अधिक महत्त्व देता है। दुःखान्त नाटक भय और करुणा-प्रधान होते हैं। नाटकोंमें इन दोनों भावनाओंकी अभिव्यक्ति देखकर दर्शकके हृदयमें स्थित इन वृत्तियोंका परिमार्जन हो जाता है। भारतीय आलोचनामें दुःखान्त नाटकोंको स्थान ही नहीं दिया गया है। यहाँ करुणा और भयकी भावनाओंको नाटकीय-कार्य-व्यापारके बीच में स्वीकार करते हैं, अन्तमें नहीं। भारतीय जीवन-दृष्टि अन्ततः आदर्शवादी व्यक्तिकी विजयमें विश्वास करती है। भारतीय नायक कभी असफल नहीं होता। अरस्तू अपनी सन्तुलित सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टिके बावजूद 'विरेचन' (catharsis) सिद्धान्तसे आगे नहीं बढ़ सका। उसे 'रस' जैसी किसी तात्त्विक वस्तुकी अनुभूति न हो सकी। भारतीय आलोचना इस दृष्टिसे अन्यतम है। पाश्चात्य आलोचना ३२२ ई० पूर्वसे लेकर १७ वीं शती तक अरस्तूकी स्थापनाओंके इर्द-गिर्द ही बनी रही जबकि भारतीय काव्य-चिन्तन निरन्तर विकसित होता रहा और भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक, शास्त्रीय अनुशीलनकी एक सूक्ष्म, गहन एवं विकासशील परम्परा निर्मित होती रही है। प्राचीन भारतीय आलोचना 'रस', 'ध्वनि' और 'औचित्य' जैसी सूक्ष्म स्थापनाओंके कारण तथा महाकाव्य, नाटक, शब्द-शक्ति, गुण-दोष आदि काव्य-रूपों एवं काव्यांगोंके विशद्-सूक्ष्म विवेचनके कारण समग्र विश्वमें अद्वितीय है।

अध्याय ४

रोमैण्टिक आलोचना

पहले इसके कि हम कुछ आधुनिक समीक्षकों द्वारा क्रमशः प्रतिष्ठित समीक्षा-सिद्धान्तोंके विकासकी परीक्षा करें, यह अधिक उपयोगी होगा कि हम प्लेटो और अरस्तू द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंकी संक्षिप्त रूप-रेखा स्पष्ट कर लें।

प्लेटोने कला और नैतिकताके अन्योन्याश्रयी होनेका सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उसके अनुसार न केवल एक महान् कलाकार या कविको सज्जन होना चाहिए वरन् अच्छी और बुरी कला क्रमशः समाजको अच्छाई और बुराई की ओर प्रेरित करनेवाली होनी चाहिए। इसी सिद्धान्तके समकक्ष उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसमें वह कलाके सत्यको जीवनके यथार्थ आधारभूत तथ्यके ठीक समानान्तर मानता है और इसे ही कलाकृति तथा रचनात्मक साहित्यकी उच्चताका सर्वश्रेष्ठ मानदण्ड बताता है।

समीक्षा-सिद्धान्तोंकी स्थापना और विकासकी दिशामें हम अपेक्षाकृत अरस्तूके अधिक ऋणी हैं। उसकी महत्त्वपूर्ण स्थापनायें निम्नलिखित हैं—

काव्य और रचनात्मक साहित्य तथा ललित कलाओंमें एकरूपता होती है और दोनोंकी रचना-प्रक्रियाका आधार अनुकरणकी आदिम प्रवृत्ति है।

रचनात्मक साहित्यकी तात्त्विक विशेषता यह है कि वह निजी या यथातथ्यकी अभिव्यक्ति न होकर विशिष्ट और विश्वजनीन सत्यकी अभिव्यक्ति है। आधुनिक शब्दावलीमें इसे हम 'आदर्शीकरण' कह सकते हैं जो कलाकारकी एक विशिष्ट मानसिक प्रक्रिया है।

रचनात्मक साहित्य और सामान्य साहित्यमें भेद है। रचनात्मक साहित्यका सत्य कलाका सत्य है। और सामान्य साहित्यका सत्य विज्ञानका सत्य है। अतः साहित्यकी परख कलाके रचनात्मक संदर्भमें और सामान्य साहित्यकी परीक्षा विज्ञानके संदर्भमें होनी चाहिए।

पीड़ा-प्रधान संदर्भोंका प्रत्यक्षीकरण उचित है क्योंकि इससे दर्शकोंका मानसिक परिष्कार होता है।

उपर्युक्त स्थापनाओंके अतिरिक्त अरस्तूने रचनात्मक साहित्यके एक विशिष्ट रूपके निर्मेय तत्त्वोंका विश्लेषण भी किया है और 'कथावस्तु', 'चरित्र' आदिके रूपमें इन तत्त्वोंका निर्धारण करके इनके प्रयोगके सम्बन्धमें नियमोंकी स्थापना भी की है। निर्मेय तत्त्वों—वस्तु, चरित्र आदि—के सन्तुलनके मेलमें ही हम अवयवी समंजसता या आकारगत पूर्णताका सिद्धान्त भी रख सकते हैं जिसे रचनात्मक साहित्यकी कलात्मक श्रेष्ठताका मानदण्ड माना जाता है और जो प्लेटोके पूर्वोक्त सिद्धान्तका एक प्रकारसे पूरक है।

आधुनिक समीक्षा अरस्तूके कला और साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंमें इस अन्तिम सिद्धान्त—जिसका सम्बन्ध मात्र रूपसे है और जो सबसे कम महत्त्वपूर्ण समझी जाता है—को स्वीकार करके आगे बढ़ी है। यूरोपमें जागरणकालके बाद रचनात्मक साहित्यका पर्याप्त विकास हुआ किन्तु बादमें वह स्वयं एक ऐसे युगके पीछे छूट गया जिसमें चिन्तनपरक और रचनात्मक साहित्यके मिश्रित रूपकी प्रधानता थी। सत्रहवीं और अठारहवीं शतीके इस युगमें प्रकृति और साहित्य दोनोंका अध्ययन नवीन उत्साह और अधिक समुन्नत साधनोंके साथ नये सिरेसे आरम्भ किया गया। जब इस नवीन साहित्यको परखा जाने लगा तब फिरसे साहित्य-समीक्षा जैसे विषयकी ओर लोगोंका ध्यान गया। जो लेखक आधुनिक रचनाओंके मूल्याङ्कनमें लगे, उनके लिए स्वाभाविक था कि वे अरस्तूके सिद्धान्तोंसे सहायता लें। क्योंकि अरस्तूका 'काव्यशास्त्र' (Poetics) २००० वर्ष पूर्व रचित होनेपर भी अकेला ग्रन्थ था जिसमें समीक्षाके निश्चित सिद्धान्तोंका समावेश था। अरस्तू द्वारा निर्धारित सिद्धान्त होमरके महाकाव्यों और एथेन्सके नाटककारोंकी नाट्य-कृतियोंपर आधारित हैं। अतः जब इनके आधारपर आधुनिक युगकी परिवर्तित परिस्थितियोंको व्यक्त करनेवाली काव्य-कृतियोंकी समीक्षा की जाने लगी तो ये सिद्धान्त—जैसी सम्भावना थी—अपूर्ण प्रतीत हुए। इस सत्यकी उपेक्षा कर देना एक आश्चर्यजनक बात थी, फिर भी हुआ ऐसा ही और सत्रहवीं तथा कुछ अंशतक अठारहवीं शतीमें साहित्य-समीक्षाका तात्पर्य अरस्तूके 'काव्यशास्त्र' (Poetics) में उल्लिखित ऊपरी

नियमोंकी जानकारी माना गया। आलोचकोंने सम-सामयिक साहित्यपर इन्हीं नियमोंको लागू करनेमें ही आलोचनाकी इतिश्री मान लिया। विशेष रूपसे फ्रांसमें, जो इस समय यूरोपीय चिन्तन और सभ्यताका केन्द्र माना जाता था, बहुत ही उत्तम कोटिके नाटक रचे गए जो प्राचीन अभिजात (Classical) साहित्यके ढाँचेमें ढले थे। सेंट्सबरी[1] लिखता है कि प्राचीनोंका अनुकरण करते हुए या प्राचीनोंका चिन्तन करते हुए उन्होंने प्राचीनताको ही स्वीकार किया। जिस प्रकार ताशका खिलाड़ी कुछ निश्चित नियमोंमें बँधकर खेल खेलता है उसी प्रकार फ्रेंच नाटककारों और समीक्षकोंने कुछ निश्चित नियमोंको स्वीकार किया जिसके अनुसार कवि और नाटककार अपनी रचना प्रस्तुत करते थे। इन आरोपित और बाह्य नियमोंको स्वीकार करनेका क्या परिणाम हुआ यह फ्रांसके दो महान् नाटककारों—कॉरनील (Corneille)[2] और रासीन (Racine)[3] की कृतियोंको देखकर भलीभाँति जाना जा सकता है। डेमोगोयट (Demogeot) कहता है कि यह सारी गड़बड़ी संकलनत्रय (Three Unities) के सिद्धान्तका पालन करनेके कारण हुई। कॉरनील और रासीन दोनोंने यह बन्धन स्वीकार कर लिया था। समय, स्थान और घटनाके संकलनके सिद्धान्तका अनुसरण करनेसे कथानक अनिवार्यतः छोटे रखे गये। फलस्वरूप पात्रोंकी संख्या बहुत कम रखनी पड़ी और उनके चरित्रका पूर्ण विकास नहीं दिखाया जा सका। किसी एक स्वतः पूर्ण घटनाको पर्याप्त मान लिया गया और उसका तीव्र और अबाध विकास दिखाया गया। सभी पात्रोंको सवादके लिए किसी एक ही लम्बे-चौड़े सूने बरामदेमें उपस्थित किया गया।

---

१ सेंट्सबरी Saintsbury, (१८४५-१९३३)—किंग्स कॉलेज स्कूल लंदनमें शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध आलोचक और इतिहासज्ञ। १८९५ से १९१५ तक एडिनबरा यूनिवर्सिटीमें अलंकारशास्त्र तथा अंग्रेजी साहित्यका प्रोफेसर रहा था।—अनु०

२. कॉरनील Corneille, Pierre (१६०६-८४ ई०)—फ्राँसका प्रसिद्ध नाटककार। इसे अभिजात दुःखान्त नाटकोंका प्रवर्तक माना जाता है।—अनु०

३. रासीन Racine, Jean (१६३९-९९ ई०)—फ्रांसका प्रसिद्ध कवि और नाटककार। यह भी अपने दुःखान्त नाटकोंके लिए ही प्रसिद्ध है। इसके पात्र अधिक मानवीय और स्वाभाविक धरातलपर चित्रित हैं।—अनु०

कथानकोंसे ग्राम्य और असंस्कृत प्रसंगोंको चुनकर अलग कर दिया गया ताकि आदर्श घटनाका ही दृश्य प्रस्तुत किया जा सके। पात्र-रहित और अज्ञात प्रदेशोंका अस्पष्ट संकेत दिया जाने लगा। यह सब कुछ इस ढंगसे प्रस्तुत किया जाने लगा कि हम कह सकते हैं कि नाटकोंमें समय और स्थानका संकलन न होकर निष्कासन होने लगा। नाटकोंमें स्वीकृत घटना आध्यात्मिक हो गई और विचारोंकी भाँति समय और स्थाननिरपेक्ष अस्तित्व रखने लगी।

अरस्तूके सिद्धान्तोंका यह अनुकरण अज्ञानतावश भ्रान्त ढंगसे किया गया। अज्ञानताका कारण यह था कि फ्रांसके इन आलोचकोंने अरस्तूके 'काव्यशास्त्र' (Poetics) का प्रत्यक्ष अध्ययन नहीं किया था। अतः अनेक स्थलोंपर उन्होंने उसे गलत समझा। उन्होंने जिन नाटकोंको आदर्श रूपमें सामने रखा था वे ग्रीक नाटकोंके शुद्ध नमूने नहीं थे वरन् ग्रीकके प्राचीन अभिजात नाटकोंके अनुकृत्याभास मात्र थे, जिसके सर्वस्वीकृत उदाहरण सेनेका[1] के नाटक हैं। इनको भ्रान्त इसलिए कहा जा सकता है कि जिन परिस्थितियोंमें ग्रीक नाटकोंकी रचना हुई थी उनसे आधुनिक युगकी परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न हैं।

फ्रांसमें इस प्रकारकी रचनाओंका प्रणयन इसलिए सम्भव हो सका कि फ्रांसीसी लेखक जान-बूझकर उन प्राचीन अभिजात ग्रीक-नाटकों और उनके अनुकृत्याभासोंको दृष्टिमें रखकर अपनी कृतियाँ प्रस्तुत करते थे जिनपर अरस्तूके समीक्षा-सिद्धान्त आधृत हैं। किन्तु इंग्लैंडमें स्थिति भिन्न थी। एलिजाबेथ और स्टुअर्ट कालीन महान् अंग्रेज लेखकोंने प्राचीन अभिजात ग्रीक नाटकों और उनके अनुकृत्याभासोंकी दासताके प्रति विद्रोह किया। उन्होंने उन परिस्थितियो-से प्रेरणा ली जो उनके राष्ट्रीय जीवनको गति प्रदान कर रही थीं। ग्रीक और रोमके अप्राप्य साहित्यकी पुनर्प्राप्तिके परिणाम-स्वरूप उद्भूत प्रेरक भावनाओंकी प्रचुरता, वैज्ञानिक ज्ञानकी प्रगति, अमेरिकाकी खोज और पूर्वी संसारके लिए समुद्रीय राजमार्गके अनुसंधान तथा इन सबके साथ ही राष्ट्रीय विस्तारके दिनोंमें सहज-उद्भूत-स्फूर्ति इन सबकी सम्मिलित प्रेरणासे इंगलैंडके कलाकारोंके मनसे

---

१. सेनेका (Seneca) स्पेनका प्रसिद्ध दार्शनिक। ईसासे कुछ वर्षों पूर्व उत्पन्न हुआ था। यह कुमार नीरोका शिक्षक रहा था। बादको उसका दरबारी भी बन गया था। इसके दुखान्त नाटक प्रसिद्ध हैं।—अनु०

एक ऐसी सृजनात्मक चेतनाका उदय हुआ जो प्राचीन युगके किसी काव्य रूपकी संकुचित सीमाका बंधन स्वीकार न कर सकी।

फिर भी फ्रांसीसी प्रभाव-वृद्धिके दिनोंमें प्राचीन स्वीकृत समीक्षा-सिद्धान्तोंका प्रभाव इतना अधिक था कि जब एडिसन[1] ने मिल्टन[2] की प्रतिभा-महत्ताको न्याय्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की तो उसे बाध्य होकर कहना पड़ा कि 'पैराडाइज लॉस्ट' अरस्तूके सिद्धान्तोंके सर्वथा अनुकूल है। अरस्तूके सिद्धान्तोंको मिल्टनपर लागू करने या यों कहिए कि सागरकी विशालताको गागरसे नापनेकी चेष्टा का ही यह परिणाम हुआ कि उसने अनुभव किया कि युग-विशेषके साहित्यके अध्ययनपर आधृत समीक्षा सिद्धान्त चाहे जितने अच्छे क्यों न हों वे समीक्षाके पूर्ण मानदण्ड नहीं हो सकते। इसी छान-बीनके सिलसिलेमें उसने काव्यगत मनोरमता और प्रभावात्मकताके एक नये सिद्धान्त और मूल्याङ्कनके नवीन मानदण्डकी खोज की जिसके आधारपर रचनात्मक साहित्यके अभिनव काव्य-रूपों क्या सभी काव्य-रूपोंका मूल्यांकन किया जा सकता है।

'पैराडाइज लॉस्ट'की समीक्षा करते समय एडिसनने अपनेको मुख्यत. (पूर्णतः नहीं) अरस्तूके समीक्षा-सिद्धान्तोंके प्रयोग और व्याख्या तक ही सीमित रखा। लेकिन अपने कल्पनाके आनन्द (Essay on the Pleasures of the Imagination) निबन्धमें उसने डेकार्टे[3], हॉब्स,[4] और

---

१. एडिसन, जोसेफ (Addision, Joseph, १६७२-१७१९ ई०) अंग्रेजी साहित्यका प्रसिद्ध आलोचक एवं निबन्धकार। इसने दुखान्त और सुखान्त नाटकोंकी रचना भी की है। यह पत्रकार और राजनीतिज्ञके रूपमें भी विख्यात है। इसके आलोचना सम्बन्धी निबन्ध 'स्पेक्टेटर (१७११-१२) में प्रकाशित होते रहे हैं।—अनु०

२. मिल्टन, जॉन (Milton, John, १६०८-७४ ई०) अंग्रेजीका प्रसिद्ध महान् कवि। इसकी दो महान् काव्य-कृतियाँ 'दि पैराडाइज लॉस्ट (१६६३ ई० में प्रस्तुत हो चुकी थी) और 'पैराडाइज रीगेण्ड' (१६७१ ई०में प्रकाशित)—सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।—अनु०

३. डेकार्टे (Descartes, १५९६-१६५० ई०) फ्रांसका प्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक। यह बहुत दिनोंतक हॉलैंडमें रहा था और स्वीडेनमें इसकी मृत्यु हुई थी।—अनु०

४. हॉब्स (Hobbes, १५८८-१६७९ ई०) प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक और विचारक। इसका जन्म माम्स्बरी(Malmesbury)में और शिक्षा मैगडालेन हाल ऑक्सफोर्डमें हुई थी। ज्ञानको उपयोगिताकी दृष्टिसे देखना इसके चिन्तनकी सबसे बड़ी विशेषता है। —अनु०

लॉक[1]की कृतियोंमें व्यक्त विचारोंका भी उपयोग किया और इस नवीन मनोवैज्ञानिक ज्ञानकी सहायतासे उसने इस सिद्धान्तका विवेचन और प्रतिपादन किया कि कला मुख्यतः कल्पनाको प्रभावित करती है। यह सिद्धान्त प्राचीन और आधुनिक समीक्षाका तात्त्विक अन्तर स्पष्ट करता है।

सबसे पहले हम एडिसन द्वारा प्रस्तुत 'पैराडाइज लॉस्ट'की समीक्षाकी जाँच करेंगे, जो अरस्तू द्वारा स्थापित समीक्षा पद्धतिका विशिष्ट नमूना है, पश्चात् हम नवीन समीक्षा-सिद्धान्तके स्वरूप और महत्त्वपर विचार करेंगे। एडिसनने अपनी 'पैराडाइज लॉस्ट'की समीक्षाकी योजना 'स्पेक्टेटर'के अन्तिम अठारह अंकोंमें प्रकाशित कराई थी। चार अंकोंमें कविताके कथानक, पात्र, भाव-व्यंजना और भाषाकी जाँचकी गई है। अरस्तूने दुःखान्त नाटकोंमें इन्हीं चार तात्त्विक अंगोंका विश्लेषण किया था। एडिसनने उसी आधारपर आख्यानक काव्यमें समाविष्ट उपर्युक्त तत्त्वोंका विश्लेषण किया। दो अंकोंमें उन दोषोंपर विचार किया गया है जो लेखकको उपर्युक्त चारों तत्त्वोंमें लक्षित हुए हैं। शेष बारह अंकोंमें क्रमशः काव्यके बारह सर्गोंपर विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें लेखकने प्रत्येक सर्गमें लक्षित विशिष्ट काव्य-गुणोंकी ओर भी संकेत किया है और बताया है कि किन स्थलोंपर ये गुण विद्यमान हैं। इस विवेचनके फलस्वरूप लेखकने सामान्यतः, 'पैराडाइज लॉस्ट'की उत्कृष्टता घोषित की है। किन्तु साथ ही उसने कुछ दुर्बलताओंकी ओर भी संकेत किया है। वह कहता है—'मिल्टन सामान्यतः इन चारों—कथानक, पात्र, भाव-व्यंजना, भाषा—मेंसे प्रत्येकमें सफल सिद्ध हुआ है'। साथ ही वह यह भी कहता है कि '**पैराडाइज लॉस्ट**'का कथानक दो दृष्टियोंसे दोषपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि इसका कथानक दुःखद है। अरस्तूने जहाँ यह कहा था कि ट्रैजेडीके कथानकका अन्त दुःखद होना चाहिए वहीं उसने आख्यानक काव्यके विषयमें एक सामान्य नियम निर्धारित किया था कि उसका अन्त सुखात्मक होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि इसमें अत्यधिक अवान्तर प्रसंग हैं। इसी प्रकार वह मिल्टनके पात्रोंमें भी एक प्रकारकी दुर्बलता लक्षित करता है। वह कहता है कि इसमें पाप (Sin) और मृत्यु (Death)के रूपमें दो अवास्तविक पात्र हैं। उसकी धारणा है कि इस प्रकारके

१ लॉक (Locke, १६३२-१७०४ ई०)—देखिए अध्याय २, पृ० ३८।

प्रतीकात्मक पात्र आख्यानक काव्योंके लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि उनके साथ सम्भावनाकी उस सीमाका निर्धारण नहीं हो सकता जो इस प्रकारकी रचनाओंमें आवश्यक है। अपनी समीक्षाको आगे बढ़ाते हुए वह 'पाप' और 'मृत्यु' इन दो पात्रोंसे 'सैतान' (Satan)के चरित्रका अन्तर स्पष्ट करता है। वह कहता है कि 'सैतान' सभी दृष्टियोंसे एक मानव चरित्र है। इसलिए वह पूर्वोक्त दोनों पात्रोंसे भिन्न है। एडिसनको शिकायत है कि अनावश्यक पांडित्य प्रदर्शनकी प्रवृत्तिके कारण मिल्टनकी भावात्मकता दब गई है। मिल्टनने स्वातंत्र्य-भावना और भाग्य सम्बन्धी विवादके प्रसंगमें तथा स्थल-स्थलपर इतिहास, ज्योतिष, भूगोल तथा इसी प्रकारकी अन्य ज्ञान-धाराओंकी झलक दिखाते समय अवांछित रूपसे पांडित्य-प्रदर्शन किया है।

अरस्तूके समीक्षा-सिद्धान्तोंके आधारपर किसी भी रचनात्मक साहित्य-कृतिके मूल्याङ्कनका क्या परिणाम हो सकता है? यह दिखानेके लिए ये उदाहरण पर्याप्त हैं। इन्हें एडिसनकी समीक्षाके नमूनेके तौरपर नहीं उदाहृत किया गया है। इनको प्रस्तुत करनेका उद्देश्य अरस्तूके सिद्धान्तोंकी निष्फलता दिखाना है। इसलिए यह बताना आवश्यक हो जाता है कि स्वयं एडिसनने 'सूर्यमें धब्बों'के रूपमें लक्षित होनेवाली इन त्रुटियोंको भी प्रस्तुत किया है और उसने दूने विस्तारसे 'पैराडाइज लॉस्ट'में सन्निहित गुणोंकी ओर भी इंगित किया है। मिल्टनके काव्य-सौन्दर्यकी व्याख्या करते हुए उसने इस महान् अंग्रेजी आख्यानक काव्यकी विशिष्ट उत्तमताओंको परखा है और उन्हें पूरी शक्तिसे विद्वानोंके सम्मुख उपस्थित किया है। उसने विशेष रूपसे विचार करते हुए यह निर्णय दिया है कि मिल्टनका प्रमुख काव्य-गुण उसकी उदात्तता है और उसके परवर्ती सभी आलोचकोंने इसका समर्थन किया है।

मिल्टनकी प्रतिभा और उसका काव्य-वैशिष्ट्य उसके विचारोंकी उदात्ततामें निहित है। आधुनिक कवियोंमें ऐसे कई कवि हैं जो काव्यके अन्य तत्त्वोंके क्षेत्रमें उसकी समकक्षताके अधिकारी हैं किन्तु भावनाओंकी महानताकी दृष्टिसे वह 'होमर'को छोड़कर शेष सभी प्राचीन और नवीन कवियोंसे बहुत आगे है। उसने अपने महाकाव्यके प्रथम, द्वितीय और षष्ठ सर्गोंमें जो भावनाओं और विचारोंकी महानता प्रदर्शित की है वह मनुष्यकी कल्पना-शक्तिकी सीमासे परे है।

एडिसनने समीक्षा-शास्त्रको जो कुछ दिया है वह उसके प्रसिद्ध निबन्ध 'कल्पनाका आनन्द'में लक्षित होता है। एडिसनने प्रस्तावित किया कि रचनात्मक साहित्यके मूल्याङ्कनका आधार उसकी भावना या कल्पनाको प्रभावित करनेकी क्षमता है। जो रचना हमारी भावनाको जितना ही अधिक प्रभावित करती है वह उतनी ही महान् है। अतः हम थोड़ेमें यह दिखानेकी चेष्टा करेंगे कि एडिसनकी इस स्थापनामें किस सीमातक समीक्षाका विकास सन्निहित है।

इस विकासको लक्ष्य करनेके लिए हमें थोड़ा पीछे लौटना पड़ेगा। अरस्तूने यह दिखाते हुए कि सत्यका वह रूप काव्यके मूल्याङ्कनकी कसौटी नहीं माना जा सकता, जिस रूपमें प्लेटोने उसे समझा है, इस सिद्धान्तकी स्थापनाकी कि साहित्यिक रचना कलात्मक होनेके कारण बाह्य सत्यको उसी रूपमें नहीं व्यक्त करती जिस रूपमें वैज्ञानिक साहित्य या सामान्य साहित्य व्यक्त करता है। उसने ठीक ही कहा था कि रचनात्मक साहित्यकी अभिव्यक्तियाँ अधिक सत्य होती हैं क्योंकि कलाके अन्तर्गत सत्यका अनिवार्य और अत्यावश्यक तत्त्व ही अभिव्यक्ति पाता है। एडिसनने अपने युगके मनोवैज्ञानिक ज्ञानका उपयोग—विशेषतः भावनाओं और विचारोंके साहचर्य-सिद्धान्तका उपयोग—साहित्यके क्षेत्रमें करते हुए लक्ष्य किया कि सभी कलाकृतियाँ, चाहे वह मूर्तिकला हो या चित्र-कला या साहित्य-रचना, सत्यके अनिवार्य तत्त्वोंको ही अभिव्यक्त करनेके कारण दर्शकोंके मनपर बिल्कुल दूसरे ढंगसे प्रभाव डालती हैं। वास्तविक जगत्‌में स्थूल वस्तुओंका प्रभाव कलावस्तुके प्रभावसे सर्वथा भिन्न हुआ करता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि कलाकृतियोंको मूर्त करने वाले स्थूल इन्द्रिय-ग्राह्य उपादान कलाकारकी कल्पना-सृष्टि होनेके कारण स्वयंमें ऐसी क्षमता रखते हैं कि वे देखने वालोंके मनमें अतिशीघ्र अत्यन्त स्पष्ट मनोबिम्बोंकी सृष्टि कर देते हैं। इस विशिष्टताको लक्षित करते हुए एडिसन इस निर्णयपर पहुँचता है कि कलाकृतियोंके कलात्मक वैशिष्ट्यका मूल्यांकन इसी आधारपर किया जा सकता है कि वे कहाँ तक पाठक या दर्शककी कल्पनाको प्रभावित करती हैं।

एडिसन किस प्रकार क्रमशः इस निर्णयपर पहुँचा है यह जानना कम मनोरंजक नहीं है। लेकिन सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वह भली-भाँति समझता है कि कल्पना-शक्ति मनकी सम्पूर्ण क्रियात्मकताके एक

पहल्दको व्यक्त करनेके लिए एक सुविधाजनक शब्द-प्रतीकके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कहता है कि हम मानव आत्माको कई प्रकारकी क्षमताओं और शक्तियोंके रूपमें विभाजित करके देखते हैं किन्तु वह वस्तुतः इस प्रकार विभक्त नहीं हैं। मानव-आत्मा एक पूर्ण इकाई है जो स्मरण करती है, समझती है, इच्छा करती है और कल्पना करती है।

इस कल्पना-शक्तिके प्रभावकी परीक्षा आरम्भ करते हुए वह कहता है कि सर्वप्रथम नेत्र-संवेदनाके द्वारा ही मनको बिम्बोंकी प्रतीति होती है और फिर इन्हीं बिम्बों के सहारे हम चिन्तनमें प्रवृत्त होते हैं और ये विचारोंके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रसंगमें वह संक्षेपमें इन्द्रिय-संवेदनाओंके मनोग्राह्य होनेकी मानसिक प्रक्रियाका वर्णन करता है।

वह लिखता है कि नेत्र-संवेदना ही वह माध्यम है जो कल्पनाको प्रत्ययसे युक्त करता है। इसलिए कल्पना-जनित आनन्दसे यहाँ हमारा तात्पर्य उस आनन्दसे है जो वस्तुओंको देखनेसे उत्पन्न होता है, चाहे इन्हें हम प्रत्यक्ष देखें या चित्र, मूर्ति, काव्यगत वर्णन, या इसी प्रकार किसी अन्य रूपमें अपने मनमें भावित करें। नेत्र-ग्राह्य हुए बिना कोई भी वस्तु हमारी कल्पनामें मूर्त नहीं हो सकती। यह अवश्य है कि हम जिन बिम्बोंको कल्पनामें ग्रहण कर लेते हैं, उन्हें किसी भी प्रकारकी कल्पनानुकूल चित्र-रचना या दृश्यावलीके रूपमें बनाए रख सकते हैं, बदल सकते हैं और संश्लिष्ट कर सकते हैं। क्योंकि इस कल्पना-शक्तिके बलपर काल कोठरीमें रहते हुए भी कोई भी व्यक्ति प्रकृतिके पूरे विस्तारसे पाये जाने वाले किसी भी मनोरम दृश्यको मूर्त करके उसमें मग्न होकर आनन्द प्राप्त कर सकता है।

एडिसनने कल्पना-जनित आनन्दके दो भेद किए हैं। प्राथमिक और माध्यमिक। प्राथमिक आनन्द वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखनेसे उत्पन्न होता है। माध्यमिक (secondary) आनन्द दृश्य वस्तुओंकी भावनासे उत्पन्न होता है। इस स्थितिमें वस्तुएँ हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होतीं वरन् स्मृतिमें मूर्त होती हैं या कल्पनामें बिम्बित होती हैं। उसका कहना है कि प्राकृतिक दृश्य प्राथमिक आनन्द उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं जबकि कलाकृतियाँ माध्यमिक (secondary) आनन्द उत्पन्न करनेमें समर्थ होती हैं। इसलिए कला और साहित्यका

सम्बन्ध माध्यमिक आनन्दसे है और माध्यमिक आनन्द वास्तविक वस्तुओंसे उत्पन्न न होकर इन वस्तुओंके कला-प्रतीकोंसे उत्पन्न होता है। उसके अनुसार ये कला-प्रतीक भी दो प्रकारके होते हैं। दृश्य-कला-प्रतीक और ध्वनि-कला प्रतीक। जहाँ तक भवन-निर्माण-कला, मूर्ति-कला और चित्रकलाका सम्बन्ध है, इनका एक स्थूल रूप होता है जो नेत्रोंसे देखा जा सकता है। किन्तु जहाँ तक संगीत और रचनात्मक साहित्यका प्रश्न है, इनका एकमात्र भौतिक आधार स्वरलिपि या शब्द-प्रतीक है।

सभी स्थितियों में कल्पना-जनित मध्यम कोटिके (secondary) आनन्दको स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि यह एक प्रकारकी मानसिक क्रिया है जो मौलिक या वास्तविक वस्तुओंसे उत्पन्न होने वाली भावना और उनको मूर्त करने वाली कलाओं—मूर्ति, चित्र, काव्य और संगीत-से उद्भूत भावनाकी तुलना करती है।

रचनात्मक-साहित्यमें, जहाँ शब्दों द्वारा भावनाओंको मूर्त किया जाता है, कल्पना दुहरा कार्य करती है। सबसे पहले कल्पना कवि-मनमें सक्रिय होती है। क्योंकि मानव-मन प्रत्यक्ष वस्तुमें कुछ और पूर्णता चाहता है और वह कभी भी प्रकृतिमें कोई ऐसा दृश्य नहीं पाता जो उसकी रमणीयताकी चरम-भावनाको तुष्ट कर सके। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि मनुष्यकी कल्पना-शक्ति आखोंसे देखी जाने वाली वस्तुओंसे कहीं अधिक महान्, अधिक आश्चर्यजनक और अधिक सुन्दर वस्तुओंकी कल्पना कर सकती हैं और आँखें जो कुछ देखती हैं उनमें कुछ न कुछ दोष निकाल सकती हैं। इसलिए कवि जब वस्तु-स्थितिका वर्णन करता है तब उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रकृतिके यथार्थ स्वरूपमें परिवर्द्धन और परिवर्त्तन लाकर उसे पूर्णता प्रदान करके कल्पना-शक्तिको तुष्ट करे। और जब वह अवास्तविक वस्तुका वर्णन करता है तब उसका कर्त्तव्य होता है कि वह प्रकृतिमें केन्द्रीभूत सौन्दर्यसे अधिक सुन्दर स्वरूपका काल्पनिक वर्णन करे।

'कविपर ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि वह प्रकृतिमें एक मौसमसे दूसरे मौसम तक धीरे-धीरे होने वाले क्रमिक विकासको लक्ष्य करे या पौधों और फूलों को वह क्रमशः किस प्रकार उत्पन्न करती है, उसका निरीक्षण करे। वह अपने

वर्णनमें बसन्त और शरद्‌के सम्पूर्ण सौन्दर्यका समन्वित कर सकता है और पूरे वर्षके ऋतु-सौन्दर्यसे सहायता लेकर इन्हें सुन्दरतर बनाकर चित्रित कर सकता है। काव्यजगत्‌में गुलाब, वुड वाइन और माधवी लता एक ही साथ पुष्पित हो सकते हैं और लिली, वायलेट और ऐमरेन्थसका अम्लान पुष्प एक ही क्यारीमें उग सकते हैं। काव्य-जगत्‌में इस बातका ध्यान नहीं रखा जाता कि किस प्रकारकी भूमि या जलवायुमें किस प्रकारके पौधे उत्पन्न होते हैं? वहाँ तो सभी प्रकारकी जलवायु और भूमिमें पल्लवित-पुष्पित होने वाले पौधे एकत्र दिखाये जा सकते हैं। कवि किसी भी भूमिमें नारंगी उगा सकता है। हर झाड़ीमें 'मर' (Myrrh)का पौदा दिखा सकता है और यदि उसे मसालेकी लता उगानेकी आवश्यकता हुई तो वह किसी भी मौसममें गर्मीके मौसमका आह्वान कर सकता है। यदि यह सब करनेपर भी वह कल्पनानुकूल प्राकृतिक रमणीयताका दृश्यांकन नहीं कर पाता तो वह ऐसी अनेक पुष्प-लताओंकी कल्पना कर सकता है जिनकी गन्ध, रंग और रूप प्रकृति-जगत्‌में उपलब्ध किसी भी पुष्पसे अधिक रमणीय अधिक सुगन्धिपूर्ण और अधिक चटकीला होगा। वह इच्छानुसार जंगलोंको अधिक उदास दिखा सकता है और पक्षियोंके जोड़ोंको इच्छानुकूल समंजसित कल-कूजन करता हुआ चित्रित कर सकता है। उसके लिए वृक्षोंके नीचेकी लम्बी या छोटी दृश्यावलीमें कोई विशेष अन्तर नहीं है और वह इच्छानुसार अपने झरनेको आधे मीलकी ऊँचाईसे गिरा सकता है या मात्र बीस गजकी ऊँचाईसे। हवायें उसकी इच्छानुसार बहती हैं और वह अपने पाठकोंकी कल्पनाको सुख देनेके लिए नदियोंके प्रवाहको चाहे जिस दिशामें भटका सकता है। तात्पर्य यह कि समस्त प्रकृतिगत परिवर्तन उसके हाथमें होता है और वह उसे जैसा चाहे सौन्दर्य प्रदान कर सकता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। जब वह अतिशय रमणीयताके लोभमें प्रकृतिके स्वरूपमें आमूल परिवर्त्तन कर देगा तो उसका सारा वर्णन निरर्थक हो जायगा।'

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार विरचित रचनात्मक साहित्यमें श्रोता या पाठक की कल्पनाको प्रभावित करनेकी विशिष्ट क्षमता होती है। 'काव्यमें प्रयुक्त होने वाले शब्द जब सुन्दर ढंगसे चुने जाते हैं तो उनमें इतनी शक्ति आ जाती है कि उनके माध्यमसे वर्णित दृश्य वास्तविक दृश्यकी तुलनामें कहीं

अधिक रमणीय प्रतीत होने लगता है। शब्द की सहायता से चित्रित दृश्य पाठक की कल्पना में अधिक रंगीन और अधिक सजीव प्रतीत होता है। उन्हीं दृश्यों का प्रत्यक्ष अवलोकन उतना सुखद नहीं लगता। इस दिशामें कविने प्रकृतिपर प्रायः जय प्राप्त कर ली है। यह अवश्य है कि वह स्थूल दृश्य प्रकृतिसे ही ग्रहण करता है किन्तु उसे कल्पनाका अधिक सबल स्पर्श दे देता है। उसके सौन्दर्यको उत्कर्ष प्रदान करता है और पूरे चित्र-खण्डको इतना प्रेरणाप्रद बना देता है कि अभिव्यंजित बिम्बोंकी तुलनामें प्रत्यक्ष दृश्यसे उद्भूत बिम्ब हलके और धूमिल प्रतीत होने लगते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि प्रत्यक्ष दृश्योंका निरीक्षण करते समय हमारी कल्पनामें उतना ही चित्र उपस्थित होता है जितना नयनगोचर होता है। किन्तु काव्यमें वर्णन करते समय कवि इच्छानुसार उसका मुक्त रूप उपस्थित करता है और उसके ऐसे अनेक पहलुओंको उपस्थित करता है, जिन पर हम या तो ध्यान ही नहीं दे पाते या पहली बारके निरीक्षणमें वे हमारी निगाहमें आते ही नहीं। जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो उसके प्रति हमारी भावनाकी निर्मिति दो या तीन सरल मनोबिम्बोंपर ही आवृत होती है किन्तु जब कवि उसी दृश्यका अंकन करता है तो वह हमारे सम्मुख उसकी अधिक संश्लिष्ट भावना प्रस्तुत करता है या हम तक कुछ ऐसी भावनायें प्रेषित करता है जो हमारी कल्पनाको प्रभावित करनेमें सर्वथा समर्थ और उचित होती हैं।

काव्यमें यह तत्त्व इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि समस्त रचनात्मक साहित्यका मूल्याङ्कन इसीके आधारपर किया जा सकता है। इसीलिए एडिसन लिखता है कि—'कल्पनाको प्रभावित करनेकी क्षमता ही काव्यका जीवन और चरम पूर्णता है।' काव्यके मूल्याङ्कनका यह आधार इतना लचीला और व्यापक है कि इसे सभी प्रकारके रचनात्मक-साहित्यपर लागू किया जा सकता है। यह काव्यके आनन्द-विधायक तत्त्व—जो साहित्यके तीन प्रमुख तत्त्वोंमें अंतिम है—के साथ ही वर्ण्य-वस्तु और रचना-शैलीको भी अपने प्रभाव-क्षेत्रमें ले लेता है। साहित्यके अध्ययनके सन्दर्भमें मनोविज्ञानका यह प्रयोग ही आधुनिक समीक्षा-सिद्धान्तकी मूल विशेषता है और सभी परवर्ती आलोचकोंने जाने-अनजाने एडिसन द्वारा प्रतिष्ठित इस सिद्धान्तको स्वीकार किया है।

छायावादी आलोचना और रोमैण्टिक आलोचना

पाश्चात्य समीक्षाके क्षेत्रमें एक सीमित अवधितक (१७९८-१८३० ई०) रोमैण्टिक आलोचनाका व्यापक प्रभाव रहा है। एडिसन और विलियम ब्लेक जैसे समीक्षकोंमें इसका सूत्रपात किया था। वर्ड्सवर्थ, कोलरिज और शेलीने इसे पूर्णतः विकसित एवं व्यवस्थित रूप दिया। रोमैण्टिक आलोचना काव्यमें कल्पना-तत्त्वको प्राथमिकता देती है। परम्परागत शास्त्रीय मान्यताओंको अपेक्षा व्यक्तिकी प्रतिभाको अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। आनन्द और आह्लादकी सृष्टि को काव्यका उद्देश्य स्वीकार करती है। जीवन और जगत्की यथार्थ स्थितिसे हटकर मनोरचित कल्पना-लोकके सत्यको श्रेयस्कर मानती है। अर्थात् जीवनके प्रति भावात्मक दृष्टिकोणको सही मानती है। सुन्दर और उदात्तमें ही शिव और सत्यको देखती है। हिन्दीमें छायावादी समीक्षाका व्यवस्थित रूप पन्त, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्माके काव्य-संकलनोंकी स्वयं इन्हीं लोगों द्वारा लिखी भूमिकाओंमें स्पष्ट हुआ। छायावादी समीक्षाके मूलभूत सिद्धान्त 'पन्त' रचित 'पल्लव' और 'आधुनिक कवि'की 'भूमिका'में लक्ष्य किए जा सकते हैं। उन्होंने कहा है—'प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समयके प्रवाहमें अपनी उपयोगिताके साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजानेकी जरूरत पड़ती है।'—(आधुनिक कवि)। प्रकट है कि छायावाद नवीन आदर्शोंको प्रतिष्ठित करनेकी कला-चेष्टाका परिणाम है। ये नवीन आदर्श काव्यके वस्तु और शिल्प दोनों पक्षोंसे सम्बद्ध थे। अब तक भारतीय काव्यमें व्यक्ति उपेक्षित था। छायावादमें व्यक्तिको महत्व प्राप्त हुआ। 'छायावादका कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्ति-भाव प्रसादमें 'आनन्दभाव', निरालामें 'अद्वैत भाव', पन्तमें 'आत्मरति' और महादेवीमें 'परोक्षरति'के रूपमें प्रकट हुआ।'—(छायावादकी परिभाषा, डॉ० नगेन्द्र)। छायावादके

आत्मलीन कविने जीवन और जगत्‌की कटुतासे कतरा कर कल्पनाके आदर्श-लोकमें रमण करना श्रेयस्कर समझा। उसकी सौन्दर्य-चेतनाके अनुरूप प्रत्यक्ष जगत्‌में कहीं कुछ भी नहीं था। उसने हृदयमें गूँजते हुए गूढ़, मधुर भावोंको चित्रोंकी भाषामें व्यक्त किया। काव्य प्राणोंका संगीत बनकर विश्व-व्यापी संगीत-लहरी के साथ समंजसित हो उठा। "नवीन युगकी नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं आशाओंके अनुसार कविकी वीणासे नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनायें फूट पड़ीं।"—(पल्लवकी भूमिका)। अन्य भारतीय भाषाओंमें रोमैण्टिक काव्य-रचना बँगलाके विख्यात कवि रवीन्द्रनाथके प्रभाव स्वरूप आरम्भ हुई। उनकी गीतांजलिका अनुवाद भारतकी प्रायः सभी साहित्यिक भाषाओंमें हुआ है। "गुजरातीमें 'स्नेह-रश्मि' और प्रह्लाद परीख जैसे कवि रवीन्द्र काव्यसे प्रभावित हैं। मराठी काव्यमें 'गूढ गुञ्जन' नामसे काव्यकी नवीन प्रवृत्तिका जन्म रवीन्द्र काव्यके प्रभाव स्वरूप ही हुआ है। 'मलयालम'में शंकर ककुरुप्प, आशान और उल्लूरने छायावादी ढगकी कवितायें की हैं[1]। कन्नड़में केवेम्पु, बेन्द्रे तथा गोकाकमें यह प्रवृति लक्षित होती है। इसी प्रकार तेलुगुमें राय प्रोलु सुब्बाराव और अब्बरी रामकृष्ण रावकी कवितायें इस दृष्टिसे देखी जा सकती हैं।[2] हिन्दीके कवियोंने रोमैण्टिक काव्यकी प्रेरणा सीधे अंग्रेजी कवियोंसे प्राप्त की थी। पन्तजीने स्वीकार किया है "पल्लव कालमें मैं उन्नीसवीं सदीके अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, और टेनीसनसे विशेष रूपसे प्रभावित रहा हूँ क्योंकि इन कवियोंने मुझे मशीन-युगका सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृतिका जीवन-स्वप्न दिया है।" उन्होंने रवीन्द्रकी प्रतिभाके गहरे प्रभावको भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है। हिन्दीके अन्य रोमैण्टिक कवियों—प्रसाद, निराला और महादेवी—पर रवीन्द्रके प्रत्यक्ष प्रभावकी सम्भावना कम ही है। 'प्रसाद' शैव दर्शनके आनन्दवादसे प्रभावित हैं। वे अपने काव्यकी लाक्षणिकताके लिए भी अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धनके ऋणी होनेकी बात कहते हैं। यह होनेपर भी उनके काव्यपर युगके बौद्धिक द्वन्द्व एवं व्यक्तिवादका प्रभाव स्पष्ट है।

---

१. मलयालम साहित्य का इतिहास, डॉ० के० भास्करन नायर, पृष्ठ २१८।

२. भारतीय साहित्यपर रवीन्द्रनाथका प्रभाव, डॉ० नगेन्द्र।

महादेवीकी काव्य चेतना भी युगके नवीन जागरणसे प्रभावित है। डा० राम कुमार वर्मा कबीरके अध्यात्मके साथ ही पाश्चात्य-प्रभाव-जनित वैयक्तिक चेतना से भी प्रभावित हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी छायावादी काव्य अंग्रेजीके रोमैण्टिक काव्यसे प्रभावित है और दोनोंमें बहुत दूर तक वस्तु एवं शैलीकी समानता है। उसकी व्यक्तिपरकता, उसका भावात्मक दृष्टिकोण, उसकी कल्पना एवं सौन्दर्यप्रियता, उसकी परम्पराके प्रति विद्रोहकी भावना तथा उसकी लाक्षणिक अभिव्यंजना पद्धति, अँग्रजीकी रोमैण्टिक कविताके समान ही है। हिन्दीके छायावादी कवियोंने अपने काव्य-संकलनोंकी समीक्षात्मक भूमिकाओंमें छायावादी काव्यकी इन विशेषताओंका उल्लेख भी किया है। किन्तु इन विशेषताओंके बाद भी हिन्दी छायावादी काव्यमें कुछ ऐसी बातें रह जाती हैं जो पाश्चात्य रोमैण्टिक आलोचनाके प्रकाशमें नहीं समझाई जा सकतीं। इसका प्रधान कारण रोमैण्टिक कविता और छायावादी कविताकी प्रेरणा-भूमिओंका अन्तर है। रोमैण्टिक कविता फ्रांसकी क्रान्तिसे प्रादुर्भूत उदार मानवीय चिन्तन एवं स्वातन्त्र्य भावनासे प्रेरित है। ग्राहम हफ (Graham Hough)ने इस तथ्यकी पुष्टि करते हुए लिखा है—

"In the first place, the major poetry of this period is all written under the influence of the new secular, liberal conception of man and his destiny that had sprung from the French Revolution and the french eighteenth-century thought that had preceded it."—*The Romantic Poets*

इस क्रान्तिके मूलमें रूसो, हॉब्स और लॉककी वह विचारधारा थी जिसने जनतामें यह विश्वास दृढ़ कर दिया था कि 'राजसत्ता' सामाजिक समझौतेकी उपज है। राजा ईश्वरका प्रतिनिधि नहीं है। उसका विरोध किया जा सकता है। मनुष्यको विचारोंकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस विचारधाराने जनताको राजसत्ताके विरुद्ध क्रान्तिकी प्रेरणा दी और कवियोंको प्राचीन रूढ़िग्रस्त जर्जर मान्यताओंकी नैतिक शृंखलाको तोड़ फेंकनेकी। उन्होंने मनुष्य-मात्रकी समताकी भावनाको व्यक्त किया। किन्तु यथार्थ रूपमें उनकी भावनायें चरितार्थ न हो सकीं। सामन्तवादकी समाप्तिके बाद पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई।

पूँजीवाद यदि सभीको (श्रमिकोंको भी) समान सुविधा और सुयोग दे तो उसका अस्तित्व ही मिट जायगा। इसलिए कवियोंका स्वप्न-भंग हो गया। वे एकान्त जीवी और कल्पना-विहारी हो गए। कुछने तो प्रकृतिके साथ लुका-छिपी खेलनेमें ही आत्मतोष प्राप्त किया। हिन्दीका छायावादी काव्य भिन्न प्रकारके सामाजिक और वैचारिक वातावरणसे प्रेरित है। छायावादके उद्भवके पहले सारा देश जाग उठा था और ब्रिटिश साम्राज्यके विरुद्ध अध्यात्म-समर्थित क्रान्तिमें रत था। सन् १९२१ ई० तक गान्धीका असहयोग आन्दोलन विफल हो चुका था। देशमें व्यापक निराशा फैल गई थी। किन्तु राष्ट्रका उत्साह श्लथ नहीं हुआ था। उत्साहका स्रोत भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक भी था। राजा राममोहन राय (सन् १७७४-१८३२ ई०) द्वारा स्थापित 'ब्रह्मसमाज', स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) द्वारा संस्थापित 'आर्यसमाज', रामकृष्ण परमहंस (१८३४-४८) द्वारा संस्थापित 'रामकृष्ण मिशन' आदि संस्थाएँ, जिनके माध्यमसे हमारी राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई, अपनी पुष्ट आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रखती थीं। इसलिए हर भौतिक पराजयको हम सामयिक माननेके अभ्यस्त थे। इसीलिए यदि असहयोग आन्दोलन की विफलतासे छायावादी कवि निराश हुआ है तो राष्ट्र-हितकी आन्तरिक चेतनासे वह पुनः नवीन संघर्षके लिए सन्नद्ध भी हुआ है। छायावादी कविकी संघर्षशील प्रवृत्ति उसे नितान्त वैयक्तिक होनेसे बचा लेती है। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी सभीमें वैयक्तिक आत्मलीनता और सामाजिक संघर्ष-शीलताकी यह दुहरी चेतना लक्ष्यकी जा सकती है। अँग्रेजीके रोमैण्टिक कवियोंमें क्रान्तिकी सफलताका उल्लास और तदुपरान्त स्वप्न-भंगका अवसाद है। छाया-वादी कवियोंमें पराजयके अवसादके साथ ही पुनः संघर्षके लिए संगठित होनेका आह्वान और उद्बोधन है। छायावादी कवि अवसादके क्षणोंमें अन्तर्लीन भी हुआ है और उसने अतीतके स्वप्न-लोक तथा प्रकृतिके कल्पना-लोकमें विचरण भी किया है किन्तु घूम फिर कर उसकी भावना राष्ट्र-हित-चिन्तामें भी लीन होती रही है। छायावादी कविकी वैयक्तिकता और मानववादिता भी रोमैण्टिक कवियोंसे थोड़ी भिन्न है। रोमैण्टिक कवियोंकी आत्मचेतनाकी पृष्ठभूमिमें किसी प्रकारका अध्यात्म-चिन्तन नहीं है। उनका मानवतावाद सामाजिक जीवनके श्रेष्ठ

एवं उदात्त तत्वोंपर ही आधारित है जबकि छायावादी कविका मानवतावाद वैदिक मानवतावादका युगानुकूल परिवर्तित रूप है। रवीन्द्रका विश्वमानवतावाद या गान्धीका सर्वोदयवाद भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनके प्रभावसे सर्वथा रहित नहीं है। गान्धीपर गीता और मध्यकालीन वैष्णव भक्ति दोनोंका प्रभाव है। रवीन्द्र भी औपनिषदिक चिन्तन और निर्गुण कवियोंकी प्रेमगर्भित सहज-साधना दोनोंसे प्रभावित हैं। हिन्दीके प्रायः सभी छायावादी कवियोंपर अध्यात्म-की छाया है। प्रसादजीपर शैवदर्शन, महादेवीपर बौद्ध और औपनिषदिक दर्शन, निरालापर अद्वैतदर्शन तथा रामकुमार वर्मापर सन्त-दर्शनके प्रभावको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। छायावादके सुकुमार शरीरपरसे आध्यात्मिक चिन्तनका यह चर्म उतारकर नहीं फेंका जा सकता क्योंकि यह सहजात है। यह होते हुए भी पाश्चात्य रोमैण्टिक आलोचना और हिन्दीकी छायावादी आलोचनामें पर्याप्त समता है। दोनोंमें प्राचीन संकीर्ण नैतिक दृष्टिकोणके स्थान-पर व्यापक एवं उदार जीवन-दृष्टिको स्वीकार करनेका आग्रह है। दोनों ही मानवमें भावना, आवेग और रहस्यकी स्थितिको महत्त्व देते हैं। दोनोंमें ही रूखी बौद्धिकताके प्रति विरक्ति और सृजनात्मक कल्पनाशीलताके प्रति रुझान है।

अध्याय ५

रचनात्मक साहित्य और कल्पना का आनन्द

एडिसनने सत्रहवीं शतीके मनोविज्ञानका प्रयोग करके काव्यके मूल्याङ्कनके जिन तीन आधारों—सत्यता, समंजसता और कल्पनाको प्रभावित करनेकी क्षमता—की स्थापनाकी, वे हमारे सामने हैं। ये तीनों आधार काव्यके तीन प्रमुख तत्त्वों—वर्ण्यवस्तु, रचना-विधि और आनन्दविधायिनी शक्ति—के समानान्तर स्थापित किए गए हैं। लेकिन उन्नीसवीं शतीके लेखकोंने इन कसौटियोका किस प्रकार प्रयोग किया है? तथा भिन्न-भिन्न समीक्षकों द्वारा इन कसौटियोंको पृथक् पृथक् न्यूनाधिक महत्त्व देनेसे समीक्षा-सम्बन्धी जो प्रश्न उठ खड़े होते हैं, उनपर विचार करनेके पूर्व हम दो विदेशी लेखकोंकी कृतियों—लेसिंग[१]की लोकून (Laocoon, १७६६ ई०) और विक्टर कजिन[२]की 'The True, the Beautiful and the Good' (Du Vrai, du Beau et du Bien, १८५३ ई०)—पर दृष्टिपात करना आवश्यक समझते हैं।

उपर्युक्त दोनों लेखक स्वीकार करते हैं कि कलाकृतियाँ प्रमुखतः पाठक या दर्शककी कल्पनाको प्रभावित करती हैं। बुद्धि और इन्द्रियोंपर इनका प्रभाव कम मात्रामें पड़ता है। किन्तु इन दोनों लेखकोंने प्रभावके स्वरूपकी विवेचना दो विरोधी दृष्टि-बिन्दुओंसेकी है। 'लेसिग' वस्तुपरक दृष्टिसे विचार करते हुए यह बताता है कि कवि और चित्रकारको अपनी कृतियोंमें कल्पनाको प्रभावित

---

१ लेसिंग (Lessing, १७२९-१८ ई०)—प्रसिद्ध जर्मन आलोचक और नाटककार। 'लोकून' (Laocoon) इसकी विख्यात समीक्षा-कृति है जिसमें इसने काव्य-कला और चित्रकलाकी तुलना की है।—अनु०

२ कजिन, विक्टर (Cousin, Victor, १७९२-१८६७ ई०) प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक और समीक्षक। पेरिसमें पैदा हुआ था। इकोल नारमलमें शिक्षा पाई थी। कई बार जर्मनीकी यात्राकी थी। इसके विचारोंपर कान्ट और हीगेलके विचारोका प्रभाव लक्षित होता है।—अनु०

करनेकी क्षमता उत्पन्न करनेके लिए यथार्थके किस स्वरूपको व्यक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इसके विपरीत 'कजिन' व्यक्तिपरक दृष्टिकोणसे विचार करता हुआ रचनाके उस क्रमको उद्घाटित करता है जिसके अनुसार इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत स्थूल दृश्य या रूप कवि या कलाकारके मनमें भावनाके रूपमें परिवर्तित होता है। यही भावना जब उचित कला-माध्यमसे व्यक्त होती है तब पूरी शक्तिसे दर्शकोंकी कल्पनाको प्रभावित करती है। संक्षेपमें कहा जाय तो लेसिंगका उद्देश्य यह बताना है कि किस प्रकार कलाकार वस्तुस्थितिको व्यक्त करते हुए अपनी कलागत सीमाओंके अनुकूल मूलवस्तुके स्थूल उपादानोंमें परिवर्तनकर लेता है और कजिनका उद्देश्य यह दिखाना है कि कलाकारके मनमें भावना या 'यथार्थका मनोगत-स्वरूप', जिसे व्यक्त करना कलाका विशेष उद्देश्य है, किस प्रकार उद्-भावित हो.ा है।

लेसिंगने जिस ढंगसे अपना अन्वेषण प्रस्तुत किया है वह स्वयंमें तो दिल-चस्प है ही, इसलिए भी मनोरंजक है कि वह एक प्रकारसे अरस्तूके स्थूल और व्यावहारिक समीक्षा-सिद्धान्तोंका ही विकसित रूप है। शिल्प-सौन्दर्यकी प्रसिद्ध कृति 'लोकून'की निर्माण-तिथिका विवेचन करते हुए वह लक्ष्य करता है कि इसमें और 'एनीड' (Aeneid)[1] द्वितीयमें वर्जिल (Virgil)[2] द्वारा लोकून और उसके दो पुत्रोंके वर्णनमें असाधारण समानता है। इसके बाद वह अपने तर्कको आगे बढ़ाते हुए कहता है कि ऐतिहासिक प्रमाणको अलगकर दिया जाय तो भी 'शिल्प-कृति'की निर्माण-तिथिका निश्चय कलात्मक बारीकियोंके आधारपर हो सकता है। क्योंकि यदि कवि मूर्तिकारका अनुकरण करेगा तो वह शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे दृश्यको मूर्त करते समय असुविधाजनक स्थितियोंको छोड़ जायगा, इसी प्रकार यदि मूर्तिकार कविका अनुकरण करेगा तो वह भी प्रस्तरके मूर्ताधार होनेके कारण कवि द्वारा वर्णित पूरे ब्योरे और बारीकीको मूर्त करनेमें असमर्थ होकर कुछ न कुछ छोड़ देगा। इसी आधारपर दोनों कलाकृतियोंकी

---

१. एनीड (*Aeneid*)-वर्जिल द्वारा रचित लैटिनमें आख्यानक कविता जिसमें लोकूनकी कहानी वर्णित है।—अनु०

२. वर्जिल (Virgil ७०-१९ ई० पू०) रोमन कवि। इसकी प्रमुख रचना एनीड (Aeneid) है।—अनु०

विस्तृत और विचारपूर्ण तुलना करनेके बाद वह अन्तिम निर्णय देते हुए कहता है कि शिल्पकारने कविका अनुकरण किया है। क्योंकि वर्जिलके वर्णनसे मूर्तिकी तुलना करनेपर स्पष्ट लक्षित होता है कि मूर्तिकारने उन्हीं स्थितियोंको छोड़ दिया है जो प्रस्तरमें दिखाई ही नहीं जा सकती थीं। एक विशेष अन्तरको लक्ष्य करते हुए वह कहता है कि वर्जिलने अपने काव्यमें लोकूनको भयंकर रूपसे चीखता हुआ दिखाया है जबकि शिल्पकारने उसके मुखमंडलको शान्तिकी भावनासे मण्डित किया है। वह कहता है कि यह अन्तर बिल्कुल स्वाभाविक है। क्योंकि संगमरमरके माध्यमसे उस भीषण यन्त्रणाकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती जिसका वर्णन वर्जिलने अपने निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—

Clamores simul horrendos ad sidera tollit :
Quales mugitus, fugit cum sancius aram
Taurus, et incertum excussit cervice securim.

मूर्तिके माध्यमसे यदि इस यन्त्रणाको व्यक्त करनेका प्रयत्न किया जाता तो मूर्ति विद्रूप हो जाती और उपहासास्पद या भयानक प्रतीत होती क्योंकि मूर्ति स्थूल सौन्दर्यको स्थिर और शान्त स्थितिमें व्यक्त कर सकती है। इसके विपरीत यदि वर्जिलने मूर्ति-शिल्पको देखा होता और उसने अपने काव्यगत वर्णनको उसपर आधृत किया होता तो वह मूर्ति द्वारा व्यंजित सहनशीलताकी उदात्त भावनाको व्यक्त करनेका लोभ संवरण न कर पाता क्योंकि शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे जितना सहज भीषण यन्त्रणा-जनित-चीखको व्यक्त करना है उतना ही सहज सहनशीलताकी उदात्त भावनाको भी व्यंजित करना है।

इसी तुलनाके आधारपर लेसिंग चित्रकला और काव्य-कलाकी रचना-विधिकी विवेचनाको विस्तार देता है। चित्रकलाको वह नेत्र-ग्राह्य कलाओंका

---

१ At the same time he raises terrible cries to heaven : cries like the bellowing of a wounded bull that has shaken the ill directed axe from his neck and fled from the altar of sacrifice.

(उसी समय लोकून भीषण यन्त्रणासे पीड़ित होकर ठीक उसी प्रकार चीख उठा जिस प्रकार कोई बैल अपनी गर्दन पर पड़नेवाले भीषण परशुका प्रहार चूक जानेपर डकारता हुआ वधभूमिसे भाग उठता है।)

और काव्य-कलाका श्रवण-ग्राह्य कलाओंका प्रतिनिधि मानता है। अपने विवेचनाके सिलसिलेमें वह क्रमशः इन दोनों प्रतिनिधि कलाओंके मूर्ताधारोंका बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण करता है।

वह कहता है कि काव्य मूर्ताधारके रूपमें क्रमशः उच्चरित होनेवाली ध्वनियों का प्रयोग करता है। चित्रकला सहवर्ती रूपों और रंगोंका आधार लेती है। चित्रकारके लिए प्रत्यक्ष और स्थिर घटना या वस्तुचित्रकी अभिव्यक्ति अधिक अनुकूल पड़ती है। ऐसी घटना या दृश्य जिसके विविध अंश एक दूसरेके पार्श्ववर्ती होते हैं। कविके लिए प्रत्यक्ष और गतिशील घटनाकी अभिव्यक्ति अधिक अनुकूल पड़ती है। ऐसी घटना जिसके विभिन्न अंश एकके बाद एक क्रमशः घटित होते है। इसलिए चित्रकार घटनाका अप्रत्यक्ष रूपसे अनुकरण कर सकता है। अर्थात् वह चित्रित की जानेवाली वस्तुको इस ढंगसे संघटित करेगा कि घटना व्यंजित हो जाय। इसी प्रकार कवि वस्तुओंका अप्रत्यक्ष अनुकरण कर सकता है। अर्थात् वह जीवित या निर्जीव वस्तुओंकी व्यंजना वर्णनके माध्यमसे कर सकता है। इसलिए चित्रकार-को जब किसी घटनाको व्यक्त करना हो तो उसे एक ऐसे क्षणपर ध्यान निर्दिष्ट करना चाहिए जो घटनाके भूत और भविष्य दोनोंका आभास दे सके और कविको जब किसी वस्तुकी अभिव्यक्ति करनी हो तो उसे उसके उस विशिष्ट गुण या तत्त्वपर ध्यान निर्दिष्ट करना चाहिए जो उपलक्षण रूपमें वस्तुका पूर्ण और स्पष्ट चित्र बिम्बित कर सके। इस तर्कको स्पष्ट करनेके लिए एक सामान्य-सा उदाहरण पर्याप्त होगा। एक सामान्य वस्तु 'जहाज' को लीजिए। चित्रकार अपने चित्रफलकपर इसके एक विशेष दृष्टि-बिन्दुसे दृष्टिगत होनेवाले अंशको ही चित्रित करता है। इसके विपरीत कवि मनमें जहाजकी कल्पना मूर्त करनेवाले शब्द-प्रतीकमें एक ऐसा विशेषण जोड़ देता है जो जहाजकी निजी विशेषताको मूर्त करनेमें समर्थ है। वह कहता है—शीघ्रगामी जहाज। यह तो एक सामान्य उदाहरण हुआ। लेकिन यदि हम मेरिडिथ[1] का एक कथन उद्धृत करें तो उससे लेसिंगकी बात स्पष्ट हो जायगी।

---

१. मेरिडिथ, जार्ज (Meredith, George, १८२८-१९०९ ई०) प्रसिद्ध अंग्रेज पत्रकार, उपन्यासकार, आलोचक और कवि।

मेरिडिथ लिखता है कि काव्य-कलाका उद्देश्य बाह्य दृश्यकी आन्तरिक भावनाको इस प्रकार उपस्थित करना है मानों वह आंखोंके सामने स्पष्ट हो क्योंकि हमारा उड़ता हुआ मन विस्तृत वर्णनको सहज ही ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए कवि बाह्य दृश्यके अंकनमें अधिक प्रवृत्त नहीं होता। कल्पनाको शब्द या पदके माध्यमसे मूर्त करनेवाला कवि कालजयी चित्रोंका अङ्कन करनेमें समर्थ होता है। कमसे कम शेक्सपीयर और दान्तेके काव्य-चित्र ऐसे ही है। किन्तु इसका सर्वोत्तम उदाहरण होमर द्वारा प्रस्तुत वह विशेष कौशल है जिसके द्वारा वह हेलेनके सौन्दर्यकी व्यंजना करता है। होमर न तो हेलेनके कपोलोंके रंगका वर्णन करता है न उसके मुख, नाक और आँखके आकार-प्रकारका उल्लेख करता है। वह उसके सौन्दर्य-वृद्धिमें सहायक अन्य अनेक तत्त्वोंकी चर्चा भी नहीं करता। इन सबके बजाय वह उस प्रभावकी चर्चा करता है जो हेलेनकी उपस्थिति मात्रसे ट्रायके सर्वाधिक वृद्ध और बुद्धिमान व्यक्तियोंपर पडता है। इन वृद्धजनोंने—नारी-सौन्दर्यके सम्मुख जिनके कमसे कम प्रभावित होनेकी सम्भावना की जा सकती है—जब हेलेनके कमनीय रूपको देखा तो वे उसके सारे अपराधोंको भूल गए। वे उन जुल्मोंको भी भूल गए जो उसने उनके मुल्कपर ढाये थे[१]।

जो सिद्धान्त मानव-सौन्दर्यके सम्बन्धमें लागू होते हैं वे ही प्राकृतिक सौन्दर्यके सम्बन्धमें भी समान रूपसे चरितार्थ होते हैं। इसीलिए प्राकृतिक दृश्योंका वर्णन भी कविके लिए अधिक अनुकूल नहीं पड़ता। ऐसा नहीं है कि कवि इन दृश्योंका चित्रण नहीं कर सकता। वह इन्हें बड़ी सरलतासे चित्रित कर सकता है क्योंकि वह भाषाको माध्यमके रूपमें स्वीकार करता है जो किसी भी धारणीय भावनाको बिम्बित करनेमें समर्थ होती है। लेकिन रचनात्मक-साहित्यके प्रणेताका दृष्टिकोण इतिहासकार या दार्शनिकसे भिन्न होता है। वह कलाकार होता है इसलिए कलात्मक रचना-प्रणालीका अनुसरण करना उसके लिए अनिवार्य

१ 'इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है यदि ट्रोजन्स और एकियन्स (Achaeans) ने एक ऐसी स्त्रीके लिए इतने दिनोंतक भीषण कष्ट सहन किया। वह तो अमरताकी साक्षात् देवीके समान है।'

—इलियड, पृष्ठ १५६-८

है। अर्थात् उसे ऐसा वर्णन उपस्थित करना होता है जो मात्र बुद्धिको प्रभावित न करके भावनाको प्रभावित करे। लेसिंगने यद्यपि जान-बूझकर 'कल्पना या भावनाको प्रभावित करने' के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तका प्रयोग नहीं किया है क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आए हैं उसने विभिन्न कलात्मक रचनाओंकी विवेचना वस्तुगत या बाह्य दृष्टिसे की है, फिर भी उसने रचनात्मक-साहित्यके सन्दर्भमें इस सिद्धान्तके प्रयोगको बहुत अच्छे ढंगसे व्यक्त किया है।

वह लिखता है कि 'चूँकि, शब्द-प्रतीक हमारे निजके निर्मित प्रतीक हैं, इसलिए उनके माध्यमसे किसी वस्तुके विभिन्न अंगोंको क्रमबद्ध रूपमें ठीक उसी प्रकार व्यक्त करना, जिस रूपमें वे प्राकृतिक या वास्तविक जगत्में एक दूसरेसे क्रमबद्ध देखे जाते हैं, सहज सम्भाव्य है। वाणीकी यह एक सामान्य विशेषता है, इससे काव्यकी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं हो पाती। कविका उद्देश्य इतना ही नहीं है कि वह किसी वस्तुको सरल सुबोध ढंगसे प्रस्तुत कर दे। सरल, सुबोध और स्पष्ट होना तो गद्य-लेखककी विशेषता है। कविकी अभिव्यक्ति, वस्तु-चित्रके सुबोध कथनसे कुछ विशिष्ट होनी चाहिए। वह चाहता है कि जिन भावनाओंको हमारे मनमें उद्भूत करना है वे स्पष्टतः इस प्रकार बिम्बित हो जायँ कि जैसे वे सहसा हमारे मनमें कौंध गई हों। हमें विश्वास होने लगे कि हम वास्तविक चित्रोंको, इन भावनाओंके भौतिक रूपोंको, प्रत्यक्ष देख रहे हैं और उनकी अनुभूति ग्रहण कर रहे हैं। इस स्थितिमें कविकी सफलता इसमें है कि हम यह भी भूल जायँ कि हमारे सम्मुख शब्द-प्रतीक प्रस्तुत किए गए हैं जो मात्र माध्यम हैं। जिसे काव्य-चित्र कहते हैं उनकी व्याख्या इसी स्तरपर की जा सकती है। उन्हें इसी सिद्धान्तके आधारपर समझा जा सकता है[१]।

कजिनके सिद्धान्त लेसिंगकी स्थापनासे ठीक विपरीत मान्यता प्रस्तुत करते हैं और इसीलिए उसके पूरक हैं। लेसिंगके विवेचनका आधार अरस्तूके सिद्धान्त हैं किन्तु उसने जो व्यापक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं वे प्लेटोके दर्शनपर आधृत हैं। वह कहता है कि हमारा उद्देश्य सौन्दर्य और कलाके सम्बन्धमें एक नियमित

१. 'लोकून' अध्याय १७, लेखककी प्रसिद्ध कृति 'समीक्षाके सिद्धान्त'में प्रस्तुत अनुवादके आधार पर।

और पूर्ण सिद्धान्तकी रूपरेखा प्रस्तुत करना है। इसलिए वह क्रमशः निम्नलिखित शीर्षकोंमें अपने विचार प्रस्तुत करता है। (१) **व्यक्तिनिष्ठ सौन्दर्य**, या मनुष्यकी सौन्दर्य-चेतनाको प्रभावित करनेवाले तत्त्व (२) **वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य**, या किसी घटना, विचार, व्यक्ति अथवा वस्तुको सुन्दर बनाने वाली विशेषताएँ, (३) **कलाकी प्रवृत्ति**, या वास्तविक-सौन्दर्यको मूर्त करनेकी प्रक्रिया, और (४) विभिन्न **कलाओंसे सम्बद्ध साधन और उद्देश्य** या कलाओंके वर्गीकरणके आधार। सौन्दर्यके इन सभी पहलुओंपर उसने संक्षेपमें दार्शनिककी अन्तर्दृष्टिसे विचार किया है किन्तु समीक्षा-शास्त्रको उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन आदर्शीकरणकी प्रक्रियाकी व्याख्या है। उसकी 'आदर्शीकरणकी प्रक्रिया' ठीक वही चीज है जिसे एडिसन कवि-मनमें कल्पनाकी प्रक्रिया कहता है और जिसे अब कलाकारके मनकी विशिष्ट प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार किया गया है। वह कहता है कि यथार्थ जगत्में जो प्राकृतिक, भौतिक और नैतिक, सौन्दर्य हमें भाता है उसे हम फिरसे देखना और अनुभव करना चाहते हैं इसलिए हम उसे पुनः मूर्त करना चाहते है किन्तु उसके यथार्थ रूपको मूर्त न करके उस रूपको मूर्त करते हैं जो हमारी कल्पनामें बिम्बित होता है। इसी स्तरपर एक मौलिक कलाकृतिका सृजन होता है[१]। कलाकार न तो उस अर्थमें स्रष्टा है जिस अर्थमें हम विधाताको स्रष्टा या कर्त्ता मानते हैं और न वह मात्र अनुकरण करने वाला ही है। वह यथार्थ जगत्से कला-की सामग्रीका चयन करता है और उसे परिवर्तित रूपमें पुनः मूर्त करता है। यह रूपात्मक परिवर्त्तन यथार्थ वस्तुके आदर्शीकरणके परिणामस्वरूप होता है। कजिन लिखता है कि एक सच्चा कलाकार प्राकृतिक सौन्दर्यको एक गहरे स्तरपर महसूस करता है और उसके प्रति प्रशंसाकी भावना रखता है किन्तु प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु समान रूपसे प्रशंसनीय नहीं होती। कलाकार यथार्थ वस्तुकी भावनाको व्यक्त करता है। उसके मनमें इस भावनाकी उद्भूति कुछको चुनने और कुछको त्यागनेकी दुहरी प्रक्रिया द्वारा होती है। वस्तुकी भावनात्मक सत्ता ही उसकी अभिव्यक्तिका विषय है। जब वह किसी घटना, वस्तु या व्यक्तिका चित्रण करता है तो इन सभी स्थितियोंमें भावनाका निर्माण करते समय वह इन वस्तुओंमें निहित त्रुटियोंको छोड़ देता है और इन्हें पूर्ण सुन्दर बनानेके

१. *Du Vrai*, etc. अध्याय ८।

लिए ऐसी बहुत सी विशेषतायें जोड़ देता है जो इनमें कत्तई नहीं पाई जाती। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि वह अपनी वर्ण्य-वस्तुका आदर्शीकरणकर लेता है। इस प्रकार आदर्शीकरण द्वारा मानव-मन अनजाने ही प्रकृतिकी समीक्षा करता रहता है[१]। और वस्तुतः अपने उचित कला-माध्यम द्वारा कलाकार यथार्थके इस आदर्शीकृत रूपकी ही अभिव्यक्ति करता है, यथार्थकी नहीं। कजिनके शब्दोंमें कलाका उद्देश्य यथार्थ सौन्दर्यके सहारे नैतिक सौन्दर्यको अभिव्यक्ति देना है। 'कलाके लिए यथार्थ, आदर्शको व्यक्त करनेका मात्र एक प्रतीक है। प्रकृतिके क्षेत्रमें इस प्रकारका प्रतीक प्रायः अप्रत्यक्ष होता है, कला इसे प्रत्यक्ष करनेके प्रयत्नमें ऐसे परिणामपर पहुँच जाती है जिसे प्रकृति सदैव उत्पन्न नहीं करती। प्रकृतिके पास दूसरे साधन हैं जिनसे वह हमारा रंजन करती है, क्योंकि उसमें वह असीम जीवन-तत्त्व है, जो हमारे नेत्रों और कल्पनाको अभिभूतकर लेता है। कला एक उच्चतर स्तरपर हमारे हृदयको स्पर्श करती है क्योंकि नैतिक सौन्दर्यको व्यक्त करनेके प्रयत्नमें वह हमारी गहन भावनाओंको प्रत्यक्ष रूपसे प्रभावित करती है। प्रकृतिकी सापेक्षितामें कला अधिक भाव-प्रवण होती है और वह उच्चतम स्तरके सौन्दर्यका लक्षण और मानदण्ड है[२]।

सभी कलाओंमें काव्य या रचनात्मक साहित्य एक ऐसी कला है जिसमें आदर्शीकरणकी प्रक्रिया अधिक मुक्त रूपमें सम्भव है। पहली बात यह है कि इसकी अभिव्यक्तिका माध्यम भाषा है जो अन्य कलाओं द्वारा स्वीकृत माध्यमों-की तुलनामें अधिक सहज परिवर्त्तनीय है। दूसरी बात यह है कि भाषा ही चिन्तनका यथार्थ माध्यम है। इसलिए वह कलाकारको दर्शक और पाठकके मनसे सीधे सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता प्रदान करती है।

वह लिखता है कि 'वाणी काव्यका साधन है, काव्य, प्रयोगानुसार, इसे परिवर्त्तितकर लेता है और इसे इस ढंगकी पूर्णता प्रदान करता है कि इसके माध्यमसे आदर्श सौन्दर्यकी सफल अभिव्यक्ति हो सके। काव्य इसे लययुक्तकर देता है। इसमें कुछ ऐसी विशेषता ला देता है जो ध्वनि और संगीत दोनोंके प्रभावसे युक्त होती है। इसे एक साथ ही भौतिक और आध्यात्मिक शक्तिसे

१ समीक्षाके सिद्धान्त।
२. *Du Vrai*, etc, अध्याय ८।

मण्डितकर देता है। इसमें एक प्रकारकी पूर्णता, संक्षिप्तता, स्पष्टता ला देता है, ठीक वैसी ही जैसी सूक्ष्मतम रेखाओं और आकृतियोंमें होती है, इसमें रंगों जैसी आभा, दमक और ताजगी भर देता है, इसे ध्वनिकी असीमता और भावोद्रेक-क्षमतासे युक्तकर देता है। काव्य द्वारा गृहीत और परिवर्तित शब्द प्रतीक स्वयंमें सभी कला-प्रतीकोंकी तुलनामें अधिक सजीव और अधिक विश्वजनीन होता है। अपने ही द्वारा निर्मित भाषाकी इस अद्भुत शक्तिसे पूर्ण होकर काव्य-कला मूर्ति और चित्र-कलाओंकी भाँति सभी प्रकारके इन्द्रिय-ग्राह्य अनुभूति-बिम्बोंको व्यक्त करती है। संगीत और चित्र-कलाकी भाँति ही अनुभूति ग्रहण करती है किन्तु उसे पूर्ण विविधतामें व्यंजित करती है—ऐसी विविधतायें जो संगीतमें व्यंजित नहीं हो सकतीं और जो एकके बाद एक इतनी क्षिप्र गतिसे आती है कि चित्रकलाकी अभिव्यक्ति सीमामें आ ही नहीं पाती। फिर भी, इसमें वही स्वाद और शान्तिमयता होती है जो मूर्ति-कलामें होती है। इतना ही नहीं, यह उस विचार-तत्त्वको भी व्यक्त करती है जिसे अन्य कलायें बिल्कुल ही व्यक्त नहीं कर सकतीं। वह विचार-तत्त्व जिसमें न रंग होता है न ध्वनि, जो आकृतियोंकी गतिमें व्यक्त नहीं होता, जो उच्चतम और सूक्ष्मतम तत्त्व है[१]।

---

१. वही, अध्याय ९, 'समीक्षाके सिद्धान्त'से अनूदित।

कल्पनाका आनन्द और रसानन्द

पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही काव्य-समीक्षक काव्यका उद्देश्य आनन्द प्रदान करना स्वीकार करते है किन्तु यह आनन्द किस तत्त्वसे प्राप्त होता है ? इसमें मतभेद है। पाश्चात्य समीक्षकोंकी दृष्टिमें (जिनमें एडिसन प्रमुख है) काव्यका आनन्द कल्पनाका आनन्द है किन्तु भारतीय दृष्टिमें काव्यकी आत्मा रस है और काव्यका आनन्द रसानुभूतिका आनन्द है। एडिसनने जिसे कल्पनाका आनन्द कहा है वह क्या वस्तु है ? कवि जगत्की बहुविध-वस्तुओंका चित्रण उनके आदर्शीकृत रूपमें प्रस्तुत करता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है ठीक उसी रूपमें उसे चित्रित न करके उसमें अधिक सौन्दर्य, अधिक महिमा, अधिक प्रभविष्णुता लानेकी चेष्टा करता है। कविका जगत् सम्भावनाका जगत् है। वस्तु-विशेषके यथार्थ-रूप और सम्भावित-रूपमें जो अन्तर है, वह कल्पनाका ही अन्तर है। काव्यके पाठकके मनमें आनन्दकी अनुभूति यथार्थ और काव्यमें उसके चित्रित रूपकी तुलनासे उत्पन्न होती है। उसमें यह तुलना करनेकी शक्ति श्रेष्ठ काव्य-कृतियोंके अध्ययनसे विकसित होती है। काव्यका हर पाठक समान आनन्दका अनुभव नहीं कर पाता। जिसमें श्रेष्ठ कृतियोंके अध्ययन एवं अनुशीलनसे कलात्मक रुचिका जितना ही अधिक विकास हुआ होगा, उसमें आनन्दकी भावना उतनी ही अधिक मात्रामें उत्पन्न होगी।

विचार किया जाय तो एडिसन द्वारा विवेचित कल्पनाके आनन्दकी यह प्रक्रिया भारतीय रसानन्दकी मान्यतासे अधिक भिन्न नहीं है। रसकी अनुभूति साधारणीकरणकी प्रक्रिया द्वारा होती है। अर्थात् जब कवि अपनी अनुभूतिको इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह सहृदय पाठकके हृदयमें भी उसी रूपमें जाग्रत हो जाती है जिस रूपसे कविके हृदयमें थी तो हम यह कहते हैं कि यहाँ कविकी अनुभूतिका साधारणीकरण हो गया है। अनुभूतिके साधारणीकृत होनेपर ही सहृदय पाठकको रसानन्द प्राप्त होता है। अनुभूतिका साधारणीकरण हो

सके, इसके लिए कविको एक प्रकारसे उसका आदर्शीकरण ही करना पड़ता है। आचार्य शुक्लके अनुसार साधारणीकरणके लिए आलम्बनमें सामान्यधर्मकी प्रतिष्ठा आवश्यक है। यह सामान्यधर्म और कुछ नहीं व्यक्तिगत स्तरसे ऊपर उठा हुआ सर्वस्वीकृत या लोक-स्वीकृत धर्म ही है जो एक प्रकारसे मानव-धर्मका आदर्शीकृत रूप है। भारतीय काव्यशास्त्रमें 'रसाभास'की कल्पना इस 'आदर्शीकरण'के सिद्धान्तको और अधिक स्पष्ट कर देती है। इस सम्बन्धमें आचार्य रामचन्द्र शुक्लके विचार मननीय हैं। वे कहते हैं "किसी काव्यमें वर्णित किसी पात्रका किसी कुरूप और दुःशील स्त्रीपर प्रेम हो सकता है पर उस स्त्रीके वर्णन द्वारा शृंगाररसका आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। (रसमीमांसा) कुरूपा और दुःशीला स्त्री, नारीका आदर्शीकृत रूप नहीं है।' उसके प्रति व्यक्त प्रणय-भाव पाठक मात्रकी कल्पनाको प्रभावित नहीं कर सकता। प्रणय-भावकी प्रभावकारी अभिव्यक्तिके लिए काव्य-चित्रित नारीका अनिन्द्य सुन्दरी होना आवश्यक है। नारी-सौन्दर्यकी यह कल्पना आदर्शीकरणकी प्रक्रिया द्वारा ही की जा सकती है। भारतीय आचार्य ऐसी स्त्रीके प्रति भाव-चित्रणको भावाभास मानता है, जिसके हृदयमें अनेक कामुकोंके प्रति रति हो। ('तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः', काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास)। अनेक कामुकोंके प्रति रति-भाव रखने वाली स्त्री यथार्थ जगत्में हो सकती है लेकिन जनसामान्यकी कल्पनाको प्रभावित करनेके लिए कवि ऐसी स्त्रीका चित्राङ्कन करेगा, जिसका प्रेम तीव्र और गहन होते हुए भी एकनिष्ठ हो। नारीका एकनिष्ठ प्रेम, प्रेमका आदर्शीकृत (Idealized) रूप है। यह लोककी सामान्य नैतिकता से समर्थित है। यह रसानन्द उत्पन्न करनेमें समर्थ है। यह सहृदय पाठककी कल्पनाको प्रभावित कर सकता है। डा० नगेन्द्रने भी कल्पनाके आनन्दमें रसानन्दका थोड़ा सा आभास स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—"अठारहवीं शताब्दीमें एडिसनने काव्यानन्दको कल्पनाका आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनों (आध्यात्मिक और ऐन्द्रयिक)से पृथक् रूपमें सामने रखा। उसके अनुसार कल्पनाका आनन्द वह आनन्द है जो वस्तुके मूल रूप और कला द्वारा उसके अनुकृत रूपके बीच मिलने वाले साम्यकी भावनासे प्राप्त होता है। वास्तवमें इसमें भारतीय रसका थोड़ा सा आभास मिलता है"। (विचार और विवेचन, पृष्ठ २४) आचार्य शुक्लने भी

कल्पनाके आनन्दके सम्बन्धमें विचार किया है। वे कल्पना द्वारा प्रस्तुत रूप-विधानको साधन और रसानुभूतिको साध्य मानते हैं। वे कहते हैं—"पाश्चात्य समीक्षकोंने 'कल्पना'का ऐसा पल्ला पकड़ा कि उन्होंने कल्पित-विधानको ही एक प्रकारसे काव्यका लक्ष्य ठहराया। हमारे यहाँ काल्पनिक रूप-विधान साधनकी कोटिमें रखा गया है, साध्य वस्तु रसानुभूति ही रखी गई है। (रस-मीमांसा, पृष्ठ २४७)। शुक्लजीने थोड़ी जल्दीमें निर्णय ले लिया है। एडिसन द्वारा प्रतिपादित कल्पनाका सिद्धान्त केवल रूप-विधान तक ही सीमित नहीं है वह पाठकके मनको प्रभावित और आनन्दित करनेकी बात भी कहता है। वर्ड्सवर्थने कल्पनाके आनन्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कवि केवल एक बन्धन स्वीकार करके काव्य-रचनामें प्रवृत्त होता है और वह बन्धन यह है कि उसकी रचना पाठक (सहृदय मानव)को सद्यः आनन्द प्रदान करनेमें समर्थ हो। इस आनन्दको ग्रहण करनेके लिए पाठकका विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं है। उसका मनुष्य होना ही पर्याप्त है। शुक्लजीने भी उसी कविको समर्थ और रससिद्ध माना है जिसे लोकहृदयकी पहचान हो या जो आलम्बन सामान्य धर्मकी प्रतिष्ठा कर सके। सामान्यधर्मकी प्रतिष्ठाके नाते ही रस-मग्न पाठक काव्यगत आलम्बनको अपना आलम्बन समझ लेता है, क्योंकि वह स्वयं सामान्यधर्मी जीव है। वड्सवर्थने भी इसी सामान्यधर्मी मानवको आनन्द प्रदान करनेकी बात कही है। स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारकोंका कल्पित रूप-विधान सामान्य पाठककी सौंदर्य-भावनासे नियन्त्रित है। पाठककी कल्पनाशक्ति सौन्दर्य-ग्रहणकी शक्ति है। इसीको प्रभावित करनेके लिए कवि रूप-विधान करता है। कवि द्वारा कल्पित रूप-विधान और पाठककी सौन्दर्यभावनामें सामंजस्यका होना ही कल्पनाका आनन्द है। प्रकारान्तरसे यही बात हम साधारणीकरणके सिद्धान्तमें भी पाते हैं। शुक्लजीने यह ध्यान नहीं दिया कि पाश्चात्य समीक्षकोंने कल्पित रूप विधानको काव्यका लक्ष्य ठहराते हुए उसे सर्वथा स्वतन्त्र न मानकर पाठककी सौन्दर्य-भावनासे नियन्त्रित माना है। कविकी दृष्टिसे जो कल्पित रूप-विधान है, कला-कृतिकी दृष्टिसे वही उसकी आनन्द प्रदान करनेकी शक्ति है और पाठककी दृष्टिसे वही सौन्दर्य-भावना है। इस प्रकार कल्पनाके आनन्द और रसानन्दमें तात्विक अन्तर नहीं दृष्टि-भेदका अन्तर है।

अध्याय ६

उन्नीसवीं शतीमें समीक्षाकी स्थिति

यह सत्य है कि महान् विचारकोंने समय-समय पर साहित्यकी रचना-प्रक्रिया पर विचार किया था और उन्होंने साहित्य-रचना तथा कला-कृतियोंकी सामान्य रचना-विधिके सम्बन्ध पर भी विचार किया था, किन्तु साहित्यके मूल्याङ्कनके निश्चित सिद्धान्तोंकी स्थापना उन्नीसवीं शतीके पहले नहीं हो सकी थी। इस विषय-के सम्बन्धमें शताब्दियोंसे सोचते-विचारते जो अस्पष्ट चिन्तनका एक ढेर एकत्र हो गया था उसीमें से उन्नीसवीं शतीमें मूल्याङ्कनके निश्चित सिद्धान्त आविर्भूत हुए। महान् और कभी-कभी महत्तम व्यक्तियोंने भी अपने साहित्यक सहयोगियों, विशेषतः समसामयिक लेखकोंकी, कृतियोंके सम्बन्धमें विचार प्रकट करते हुए जिस अन्ध दृष्टिका परिचय दिया है, साहित्यके विद्यार्थीको उससे अधिक आश्चर्यमें डालने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि हम अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीके पेशेवर आलोचकोंको—ऐसे आलोचकोंको जिनका दृष्टिकोण स्पष्टतः ध्वन्सात्मक था—अलग कर दें तो भी हमारे सामने अनेक अच्छे और गम्भीर लेखकोंकी अद्भुत उक्तियाँ हैं। वाल्तेयर[1]की एक उक्ति है कि 'हैमलेट अमानवीय और बर्बर रचना है, एक ऐसी रचना है जो किसी मद्यप जंगलीकी कल्पनाकी ही उपज हो सकती है'। गेटे[2] अपनी राय देता है कि दान्तेका 'इनफर्नो (Inferno[3]) घृणित है, परगेटोरियो[4] (Purgatorio)

---

१. वाल्तेयर (Voltaire, १६९४-१७७८)-पेरिसमें पैदा हुआ था। १७२६-२९ तक इंगलैंड में रहा। इधर-उधर भटकनेके बाद ८४ वर्षकी अवस्थामें पुनः पेरिस लौट आया। इसकी ख्याति कवि, दार्शनिक और इतिहासकार आदि कई रूपोंमें है।—अनु०

२. गेटे (Goethe, १७४९-१८३२)-जर्मनीके फेंकफोर्त नामक स्थानमें पैदा हुआ था। इसमें वैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों ही प्रतिभाओंका अद्भुत समन्वय हुआ है।—अनु०

३. इनफर्नो (Inferno) भीषण नर्क।—अनु०

४. दान्तेकी प्रसिद्ध रचना जिसमें एक ऐसे पहाड़का वर्णन है जिसपर पापियों और पश्चाताप करनेवालोंके विविध प्रकारके दल निवास करते हैं।

अस्पष्ट है और 'पैराडाइसो'[1] (Paradiso) उबा देने वाला है। बायरन[2] सभी अंग्रेज गीत लेखकोंके आकर्षणको असंवेदनशील मानता है। मैथ्यू आरनल्ड[3] जो मध्युगीन कवियोंके काव्य-सौन्दर्य और काव्य-शक्तिका वास्तविक पारखी है, अपने समसामयिक लेखकोंमें बड़ेसे बड़े लेखक---उदाहरणार्थ टेनिसन[4], ब्राउनिंग[5], स्विनबर्न[6], रासेटी[7] और विलियन मारिस[8]की प्रतिभाको परखनेमें

---

१. पैराडासो (Paradiso)-सौन्दर्य, ज्योति एवं संगीतसे युक्त एक काल्पनिक जगत्।—अनु०

२. बायरन (Byron, १७८८-१८२४)—अंग्रेजी भाषाका प्रसिद्ध कवि। लन्दनमें पैदा हुआ था। शिक्षा कैम्ब्रिजके हैरो कालेजमें हुई थी। इसकी कविता अत्यधिक लोकप्रिय हुई। रोमेंटिक आन्दोलनको इसने बहुत प्रभावित किया था।—अनु०

३. आर्नल्ड, मैथ्यू (Arnold Mathew, १८२२-८८)-अंग्रेजी भाषाका प्रसिद्ध आलोचक और कवि। १८५७-१८६७ ई० तक आक्सफोर्डमें कविता पढ़ानेके लिए प्रोफेसर रहा। इसकी गद्यकृतियाँ १८६० ई०के बाद प्रकाशमें आईं। इसे सर्वाधिक ख्याति 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' (*Essays in Criticism*, १८६५ ई०में प्रकाशित)के प्रकाशनसे प्राप्त हुई।—अनु०

४. टेनिसन (Tennyson, १८०९-९२)—अंग्रेजी भाषाका प्रसिद्ध कवि। वर्ड्सवर्थके बाद इसे पोयट लारियट बनाया गया था।—अनु०

५. ब्राउनिंग (Browning, १८१२-८९)—अंग्रेजी भाषाका सुपरिचित कवि। बैंक ऑव इंगलैंडमें काम करने वाले एक क्लर्कका लड़का था। बहुत दिनों तक इटलीमें रहा था। जीवनके अन्तिम दिनोंमें लन्दनमें स्थायी रूपसे रहने लगा था।—अनु०

६. स्विनबर्न (Swinburne, १८३७-१९०९)—कवि, नाटककार और आलोचकके रूपमें ख्याति प्राप्तकी है। इटलीके स्वतन्त्रता संग्रामके दिनोंमें इसने प्रेरणा-प्रद कविताएं लिखी थीं। इसकी प्रसिद्ध आलोचना पुस्तक 'एसेज आन स्टडीज' (*Essays on Studies*, १८७५ ई०) है। इसने कई आधुनिक कवियोंकी मार्मिक समीक्षाकी है।—अनु०

७. रॉसेटी (Rossetti, १८२८-८२)—इसका पिता ब्रिग्रेयल रासेटी इटली निवासी था जो इंगलैंडमें आकर बस गया था। कवि और अनुवादकके अतिरिक्त यह चित्रकार भी था। इसने इटैलियन, फ्रेंच और जर्मन भाषाओंसे अंग्रेजीमें अनुवाद प्रस्तुत किया है।

—अनु०

८. विलियम मॉरिस (William Morris, १८३४-९६)-यह कवि और कलाकारके अतिरिक्त राजनीतिज्ञ भी था। यह 'आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज मैगजीन'के संस्थापकोंमें से एक था। इसने गीत, आख्यानक काव्य और नाटक आदि सब कुछ लिखा है।

—अनु०

असमर्थ रहा है। जहाँ तक पेशेवर समीक्षाओंका प्रश्न है, ये मुख्यतः उन्नीसवीं शतीके प्रथम चरणमें प्रकाशित होने वाली समीक्षात्मक पत्रिकाओंमें ही निकली थीं। इन समीक्षाओंसे पता चलता है कि मनुष्यका स्वभाव कितना संकीर्ण हो सकता है। इनमें अद्भुत किस्मकी भद्दी भूलें पाई जाती हैं और लेखकोंके प्रति विष-वमन किया गया है। वर्ड्सवर्थने अपनी पुस्तक 'पूरक निबन्ध' (Essay Supplementary) और डाउडेन[1]ने अपनी निबन्ध रचना 'साहित्यकी व्याख्या' (Interpretation of Literature)में इस प्रकारकी समीक्षाओंके असाधारण उदाहरण एकत्र किये हैं; जिनमें असम्भव कार्य-सम्पादनके मोहमें बड़े लेखकोंने भी पूर्वग्रह, हठधर्मी और कभी-कभी मूर्खताका भी परिचय दिया है। उन्नीसवीं शतीके अन्त तक ऊपरी या शास्त्रीय मानदण्डोंके आधार पर प्राचीन या समसामयिक लेखकोंकी साहित्य-कृतियोंके मूल्याङ्कनकी परम्परा पूरी तरह बदनाम हो गई। इस प्रकारके मानदण्ड, भले ही उनका प्रयोग समीक्षकने उन्हें अच्छी तरह समझ कर किया हो, साहित्य-कृतियोंके उन्हीं गुण-दोषोंका आकलन कर सकते हैं जो कुछ थोड़ेसे गिने-चुने लोगोंके समझनेकी चीजें हैं। इन मानदण्डोंका प्रयोग करते हुए समीक्षक उन प्रमुख और व्यापक गुणोंकी उपेक्षा कर जाता है जो सामान्य जनोंको भी प्रभावित करनेकी क्षमता रखते हैं। साहित्य-कृतिके महत्त्व और मूल्यका सबसे बड़ा आधार उसकी सर्वप्रियता है। यह सर्वप्रियता जिन व्यापक गुणोंके कारण प्राप्त होती है उनको सामने लाना समीक्षकका कर्त्तव्य है। पत्रिकाओंमें नवीन रचनाओंके मूल्याङ्कनकी परम्परा अब भी चल रही है। इन समीक्षाओंमें बहुत सी प्रायः पूर्वग्रह-रहित और प्रेरक भी होती है, लेकिन यह समझा जाता है कि इस प्रकारकी समीक्षाओंके लेखक आत्यन्तिक निर्णय देनेका दावा नहीं करते। जिन परिस्थितियोंमें ऐसी समीक्षायें लिखी जाती हैं वे लेखकको साधारण और ऊपरी ढंगके मूल्यांकनके लिए बाध्य कर देती हैं यों वह चाहे जितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो। इसलिए पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित सामान्य समीक्षाओंको हम महत्त्वहीन मानकर अलगकर

१. डाउडेन (Dowden, १८४३-१९१३) यह ट्रिनिटी कालेज, डबलिनमें अंग्रेजी साहित्य का प्रोफेसर था। इसे शेक्सपियरका विशेषज्ञ माना जाता है। इसकी प्रसिद्ध कृति 'शेक्सपीयर : हिज माइन्ड एण्ड आर्ट' (१८७५ ई०) है।—अनु०

सकते हैं फिर भी उन्नीसवीं शतीके पहले इंगलैण्डमें न तो इतने व्यापक पैमानेपर साहित्यका अध्ययन किया गया था न इतने अच्छे निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए थे। उन्नीसवीं शतीकी अंग्रेजी-समीक्षाके सिद्धान्तों और उद्देश्योंपर विचार करनेके पूर्व, अच्छा होगा कि हम थोड़ेमें इसके विशिष्ट समर्थकों और प्रवर्त्तकोंके कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षोंकी चर्चा कर लें।

पेशेवर समीक्षकोंकी मान्यताओंके विरोधमें विचार करते हुए वर्ड्सवर्थने किसी भी ऐसी समीक्षा-पद्धति, जो नवीन साहित्यिक कृतियोंको पुराने मानदण्डोंके आधारपर देखने-परखनेकी चेष्टा करती है, में अन्तर्निहित कमजोरियोंकी ओर अंगुलि-निर्देश किया है। ऊपरी और शास्त्रीय ढंगकी समीक्षाएँ कृतियोंके जिन ऊपरी ढाँचों और रूपोंका मूल्याङ्कन करती हैं वे कृतिके मौलिक आधारोंसे सर्वथा भिन्न होती हैं। इस प्रकारकी समीक्षाओंकी असफलताका सबसे बड़ा कारण यही है कि इस विशेषताको वे स्वीकार ही नहीं कर पातीं। स्वयं उसकी कृतियोंके साथ जो अन्याय किया गया था और उनकी जो उपेक्षाकी गई थी उससे पीड़ित होकर वह कहता है—

"काव्य-कृतियोंके महत्त्वका मूल्याङ्कन करते हुए जो समीक्षायें प्रस्तुतकी गई हैं उनमें यदि कोई निष्कर्ष हमें प्रेरित और प्रभावित करता है तो वह यह है : कि प्रत्येक महान् और मौलिक लेखकको उस रुचिका निर्माण करना पड़ता है जिसके आधारपर उसकी रचनाओंका आनन्द प्राप्त किया जा सके। ऐसा होता आया है और ऐसा होता रहेगा। एक उच्च कोटिके मौलिक और प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारके पूर्ववर्ती लेखक और कवि उन सभी बातोंके लिए मार्ग प्रशस्तकर देते हैं जो दोनोंमें समान रूपसे पाई जाती हैं लेकिन जो विशेषतायें उस प्रातिभ कलाकारकी निजी होती हैं, उनके लिए उसे स्वयं मार्ग बनाना पड़ता है। उसकी स्थिति आल्पस पर्वतमें स्वयं अपना मार्ग बनाने वाले हैनीबालकी होती है।"[1]

वह स्पष्ट शब्दोंमें यह भी बताता है कि पेशेवर आलोचक जिन ऊपरी बातों—कथावस्तुका संघटन, छन्दोंकी शुद्धता, शैलीकी मधुरता आदि—के आधारपर कृति विशेषके सम्बन्धमें अपना अच्छा या बुरा निर्णय देता है वे कलाकारके लिए अंकुशका कार्य नहीं कर सकतीं। मात्र शास्त्रीय या ऊपरी पूर्णता तो उन

१. 'एसे सप्लिमेंटरी', (*Essay Supplementary.*)

कृतियोंमें भी पाई जा सकती है जो उस गुणसे हीन होती हैं, जिनके कारण किसी साहित्य-कृतिको मानव जातिके द्वारा शाश्वत महत्त्व प्राप्त होता है। वह विशेष गुण है—आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता। दूसरी ओर ऐसी कृतियाँ भी पाई जाती हैं जो शास्त्रीय नियमोंकी दृष्टिसे अपूर्ण होनेपर भी विशेष रूपसे आनन्द-दायिनी होती हैं। जैसा कि हम पहले कह आए हैं काव्य-कृतियोंमें आनन्द प्रदानकी क्षमता इसलिए आती है कि उनमें हमारी कल्पनाको प्रभावित करने वाले तत्त्व होते हैं। जीवनकी यथार्थताको सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्तिके रूपमें परिणत करनेका श्रेय इसी तत्त्वको है। कवि औपचारिक और शास्त्रीय नियमोंकी जटिलतासे मुक्त होकर ही इस तत्त्वकी उपलब्धिकर सकता है। जिस कल्पनाको कवि प्रभावित करता है वह शास्त्रीयज्ञान-सम्पन्न आलोचककी कल्पना नहीं होती वरन् जनसामान्यकी कल्पना होती है जो साधारण ज्ञान-सम्पन्न होता है। काव्यकी उत्कृष्टताकी एकमात्र कसौटी शास्त्रीय नियमोंको ही मान लेनेपर इन नियमोंका इस सीमा तक विस्तार हो जाता है कि इनके कारण काव्यके सहज मूल्याङ्कन और स्वीकृतिमें बाधा पड़ने लगती है। वह लिखता है कि 'कवि केवल एक बन्धन स्वीकार करके रचना प्रस्तुत करता है और वह यह है कि उसकी कृति सामान्य मानवको सद्यः आनन्द प्रदानकर सके। एक ऐसे मानवको जो वकील, डाक्टर, नाविक, ज्योतिषी और दार्शनिककी हैसियतसे नहीं वरन् सामान्य सहृदय प्राणीके रूपमें उसकी कृतिका आनन्द लेना चाहता है। इस एक बन्धनके अतिरिक्त कवि और वर्ण्य-वस्तुके कल्पना-बिम्बके बीच और कोई व्यवधान नहीं आ सकता जबकि इतिहासकार और जीवनी-लेखकके लिए अनेक प्रतिबन्ध हो सकते हैं।'"[१]

दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि पाठककी कल्पनाको प्रभावित करके उसे आनन्द-मग्न करना वह अनिवार्य गुण है जो किसी भी रचनात्मक-साहित्य कृतिमें होना ही चाहिए क्योंकि इसी गुणके कारण सामान्य सहृदय मानवकी भावनाको तुष्टि मिलती है और यह गुण किसी भी शास्त्रीय कसौटीकी सीमाके परे है।

---

१ (Observations, prefixed to the second edition of *Lyrical Ballads.*)

मैथ्यू आनल्डकी समीक्षात्मक कृतियोंमें उन्नीसवीं शतीकी अंग्रेजी आलोचनाका उत्कृष्टतम रूप पाया जाता है, उसके 'आलोचनात्मक-निबन्ध' (Essays in Criticism)के दो जिल्दोंमें अँग्रेजी तथा विदेशी लेखकोंका अध्ययन किया गया है। उन्नीसवीं शतीमें आलोचनाके क्षेत्रमें जिस प्रवृत्ति-परिवर्त्तनकी बात मैं पहले कह आया हूँ वह सबसे अधिक आर्नल्डके इन निबन्धोंमें पाई जाती है। प्रस्तुत प्रसंगमें यह सम्भव नहीं है कि मैं आर्नल्डके इन समीक्षात्मक निबन्धोंमें प्रत्येक लेखककी आलोचना जिस स्पष्ट और स्वच्छ शैलीमें विस्तृत उदाहरणोंके साथकी गई है, उसकी रूपरेखा प्रस्तुत कर सकूँ। यहाँ हम इतना ही कह सकते हैं कि आलोचक मैथ्यू आर्नल्डने अपने सामने जो लक्ष्य रखा था वह लेखकके उद्देश्य और व्यक्तित्वकी सूचना देने वाले विशेष गुणोंको समझनेमें सहायक सिद्ध हो सकने वाली समस्त सामग्रीको एकत्र करना और उसकी व्याख्या करना था। यही नहीं उसने इन व्यक्तित्व-विधायक गुणों और कृतियोंकी उत्कृष्टता या हीनतामें क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसपर भी विचार किया है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि उसने पाठकको वह सारी प्रारम्भिक जानकारी करा दी है जिसके बलपर वह लेखककी कृतिको विवेक और सहानुभूतिके साथ पढ़ सकता है।

विशेष लेखकोंके अपने इस अध्ययनके सिलसिलेमें उसने अप्रत्यक्ष-रूपसे कुछ सामान्य सिद्धान्तोंकी स्थापना भी की है।

(१) उसने 'लेखक और उसके युगमें निकटका सम्बन्ध होता है', इस तथ्यपर विशेष बल दिया है। वह कहता है कि किसी भी रचनात्मक साहित्य-कृतिमें दो तत्त्व स्पष्टतया लक्षित होते हैं—युगकी मनोभूमि और लेखकका व्यक्तित्व। उसने ग्रे[1] (Gray)को लेकर अपनी बात उदाहृतकी है। ग्रेके काव्यपर विचार करते हुए वह उसे एक ऐसी प्रतिभाके रूपमें देखता है जो अनुत्पादक मनोभूमिमें पड़कर सापेक्षिक दृष्टिसे, निष्फल और व्यर्थ हो गई है।

वह लिखता है कि 'ग्रे'का मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही उन

---

१. ग्रे, टामस (Gray, Thomas, १७१६-७१)–लन्दनमें पैदा हुआ था। उसकी कविताओंका प्रकाशन १७४२ ई० में होने लगा था। उसके ओड्स (लघुगीत) प्रसिद्ध है। 'एलेजी इन दी कन्ट्री चर्चयार्ड' (१७५०ई०) कृतिसे उसे पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी। —अनु०

गुणोंसे युक्त थे जो एक प्रतिभा-सम्पन्न कविमें होते हैं किन्तु वह अपनी शतीमें एक प्रकारसे एकाकी पड़ा रह गया। अध्ययनके बलपर उसने अपनी आत्मा और मस्तिष्कको सुरक्षित रखा किन्तु न तो वह उन्हें पूर्णतः विकसित कर सका और न उनका आनन्द ही ले सका। उसे अनुकूल वातावरण न मिल सका। उसके समसामयिक लेखकोंमें सौहार्द और सहानुभूतिका नितान्त अभाव था। मिल्टनका समकालीन होकर 'ग्रे' (Gray) कुछ और हुआ होता। बर्न्स[1]के समयमें उत्पन्न होने पर उसका कुछ दूसरा ही रूप सामने आता। सन् १६०८ ई०में उत्पन्न होकर कोई भी लेखक एलिजाबेथ-युगके व्यापक काव्य-क्षेत्र और प्रेरणाका लाभ उठा सकता था, इसी प्रकार १७५९ ई०में उत्पन्न होने पर कोई भी व्यक्ति उस यूरोपीय जागृतिसे लाभान्वित हो सकता था जो अन्ततः फ्रेंच-क्रान्तिकी महान् ऐतिहासिक घटनाके रूपमें व्यक्त हुई।

(२) यथार्थ जीवनकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियोंके दार्शनिक पक्ष पर व्यापक दृष्टिसे विचार करते हुए उसने यह निर्दिष्ट किया कि काव्य 'जीवनकी व्याख्या' है। कहनेका तात्पर्य यह कि कवि या उपन्यासकार जीवनके आदर्श-चित्रोंकी कल्पना करते हुए एक ऐसे आदर्श मानदण्डकी रचना करता है जिसके आधार पर जीवनके यथार्थ चित्रोंका आकलन किया जा सकता है। और चूँकि यथार्थ और आदर्शकी यह तुलना हमें मानव-सत्ताकी स्थिति और उसके उद्देश्यको समझनेमें सहायता पहुँचाती है, इसलिए उसने काव्य-चिन्तनकी विशेषता 'उसकी व्याख्या करनेकी शक्ति' घोषित किया। उसने संक्षेपमें काव्यके सत्य और विज्ञानके सत्यका पार्थक्य भी निश्चित किया है और हमें यह बताया है कि किस प्रकार अपनी इस व्याख्यात्मक क्षमताके कारण काव्य सभी प्रकारके ज्ञान-स्रोतोंकी सूक्ष्मतम आत्मा और प्राणके रूपमें मान्य हो सकता है। अपनी इस स्थापनासे उसने वर्ड्सवर्थका समर्थन किया है। ऐसा इसलिए सम्भव है कि काव्य पूरे मनुष्यको—उसकी भावना, अनुभूति तथा बुद्धि तीनोंको—प्रभावित करता है। इस प्रकार निरूपित व्याख्यात्मक क्षमताको यदि हम इस रूपमें

---

१. बर्न्स, राबर्ट (Burns, Robert, १७५९-९६)–प्रसिद्ध गीतिकाव्यकार। इसने अपना जीवन खेतमें काम करनेवाले श्रमिकके रूपमें आरम्भ किया था। इसने लगभग २०० सुन्दर गीतोंकी रचनाकी है।—अनु०

स्वीकार करें कि वह काव्यमें पाठक या श्रोताको जो प्रभावित करनेकी शक्ति मानी जाती है उसीका आभ्यान्तरिक स्वरूप है तो हम निम्नलिखित गद्य-खण्डमें उसकी सुन्दर और संक्षिप्त विवेचना पायेंगे।

'काव्यकी सबसे बड़ी शक्ति उसकी व्याख्यात्मक क्षमता है। व्याख्यात्मक क्षमतासे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि काव्य जगत्‌के रहस्योंकी लिखित व्याख्या प्रस्तुत करता है वरन् हम यह कहना चाहते हैं कि वह वस्तुओंको इस रूपमें प्रस्तुत करता है कि हम उनसे एक निकटका सम्बन्ध अनुभव करने लगते हैं। उनके प्रति हमारी एक पूर्ण धारणा बन जाती है। जब अपनेसे इतर वस्तुओंके प्रति हमारी इस प्रकारकी धारणा बन जाती है। तब हम अपनेको इन वस्तुओंके आन्तरिक स्वरूपसे परिचित अनुभव करते हैं। इनसे हमारा मानसिक सामंजस्य हो जाता है। ये वस्तुयें हमें भ्रमित और पीड़ित नहीं करतीं। हम उनके रहस्योंसे परिचित हो जाते हैं। और इससे हमें सन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है। काव्य वस्तुओंकी व्याख्या एक अन्य दृष्टिसे भी करता है किन्तु उपर्युक्त ढंगसे हमारे मनमें उनके प्रति निकटता और पूर्णताकी भावना जागृत करना इसकी व्याख्यात्मक क्षमताका एक प्रमुख स्वरूप है। हम इस तथ्यकी जाँच नहीं करेंगे कि वस्तुओंके प्रति जागृत यह भावना भ्रमात्मक है या नहीं? या इसे अभ्रमात्मक सिद्ध किया जा सकता है? या इससे हम वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपसे अवगत होते हैं? हम इतना ही कहना चाहते हैं कि काव्य इस प्रकारकी भावना उत्पन्न करता है और इस प्रकारकी भावना उत्पन्न करना इसकी सबसे बड़ी शक्ति है। वस्तुओंकी जो व्याख्या विज्ञान प्रस्तुत करता है वह व्याख्या उनके प्रति हमारा यह निकटका सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाती। विज्ञानकी व्याख्यायें मनुष्यके अंश मात्रको प्रभावित करती हैं, पूर्ण मनुष्यको नहीं। लीने[1] (Linnaeus) या कैवेंडिश[2] (Cavendish) या कूवियर[3]

---

१. लीने (Linnaeus, १७०७-७८) स्वीडेनका महान् प्रकृति विज्ञानवेत्ता। इसे वर्तमान वनस्पतिशास्त्रका जनक माना जाता है।—अनु०

२ कैवेण्डिश, हेनरी (Cavendish, Henary १७३१-१८१०) प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता। केम्ब्रिजमें शिक्षित। इसने विद्युति और पृथ्वीके घनत्वके सम्बन्धमें आविष्कार किया था।—अनु०

३. कूवियर (Cuvier १७६९-१८३२) फ्रांसका महान् नेचरलिस्ट।

(Cuvier) की व्याख्यायें हमें जानवरों, पौधों या जलाशयों के निकट नहीं ले जा पातीं। इन्हें पढ़कर हम यह अनुभव नहीं करते कि इन जानवरों, पौधों और जलाशयोंसे हमारा जीवन अभिन्न है। यह तो हम तब अनुभव करते हैं जब हम शेक्सपियरकी 'डेफोडिल्स' वर्ड्सवर्थकी 'दी सॉलिटरी रीपर' और कीट्स की 'टू ए नाइटिंगेल' कवितायें पढ़ते हैं। शैतोब्रियाँ या शाटोब्रैण्ड[1]की oime indeterminee des forets और सेनांकुअर[2] की 'पर्वतीय भोजवृक्ष' (mountain birch-tree) कवितायें पढ़ते हैं[3]।

(३) उत्कृष्ट काव्यमें यह व्याख्यात्मक क्षमता या कल्पनाको प्रभावित करने की शक्ति या स्वयं आर्नल्डके शब्दोंमें पाठककी कल्पनाशील बौद्धिकताको प्रभावित करनेकी योग्यता होनी ही चाहिए। और इस प्रकारके काव्यका प्रणयन करनेवाले सबसे अधिक बल एकान्तनिष्ठाके प्रति गंभीर दायित्व वहन करनेपर देते हैं।

"उत्कृष्ट और सफल काव्य-रचनाके लिए जीवनकी भावनाकी अभिव्यक्ति सर्वाधिक आवश्यक है। यह अभिव्यक्ति काव्यगत सत्य और सौन्दर्यके नियमों और सिद्धान्तोंके अनुकूल होनी चाहिए। जिन प्रश्नोंपर यहाँ विचार किया जा रहा है उनको जब कवि काव्यगत वर्ण्यविषयके रूपमें स्वीकार करता है तब उसे उनके प्रति गम्भीर दायित्व, ऐसा दायित्व जो एकान्तनिष्ठासे ही उत्पन्न हो सकता है, वहन करना पड़ता है। यह गहन दायित्व उत्कृष्ट काव्य-कलाकी एक अनिवार्य शर्त है।"[4] इस प्रकारका काव्य निश्चित रूपसे नैतिक होगा। अर्थात् यह नैतिकताकी व्याख्यामें सहज और सामान्य मानवीयताको जिस रूपमें स्वीकार किया गया होगा उसके अनुकूल ही होगा। "इसलिए यह मान्यता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि काव्य मूलतः जीवनकी आलोचना है और कविकी महानता इस बातमें है कि वह जीवनके सत्य या जीवनकी भावनाको

१. शैतोब्रियाँ (Chateaubriand, १७६८-१८४८) फ्रांसके रोमैंटिक आन्दोलनके जन्मदाताओंमें एक। इसने ईसाई धर्मकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है।—अनु०

२. सेनांकुअर (Senancour) फ्रेंच कवि।—अनु०

३. *Essays in Criticism*, Vol. I.

४ *Essays in Criticism*, Vol. II

प्रभावपूर्ण और सुन्दर ढंगसे व्यक्त करे। नैतिकताको कभी-कभी बड़े ही संकीर्ण और मिथ्या अर्थमें ग्रहण किया जाता है। प्रायः नैतिक नियम प्राचीन रूढ़ियों और विश्वासों के साथ चिपके होते हैं। ऐसे विश्वास जिनकी उपादेयता समाप्त हो चुकी होती है। प्रायः नैतिकताकी व्याख्या आडम्बरधारी और दम्भी धर्मनेता करते हैं। उनकी व्याख्यायें उबा देनेवाली होती है। कभी-कभी हम ऐसे काव्य में भी आकर्षण पाते हैं जिसमें परम्परागत नैतिकताके प्रति विद्रोह भाव व्यक्त होता है। हमें ऐसी कविता भी रमणीय लगती है जिसका उद्देश्य उमरखैयामकी यह पंक्ति होती है—'जो समय हमने मन्दिरों-मस्जिदोंमें व्यर्थ गँवाया है, उसे मधुशालामें पूरा कर लेने दो'। हमें ऐसी कविता भी अच्छी लगती है जो परम्परागत नैतिकताके प्रति सर्वथा उदासीन होती है। कभी-कभी हम काव्यके प्रति मात्र उसके रूपात्मक सौन्दर्यके कारण भी आकर्षित होते हैं चाहे उसका वर्ण्य-विषय कुछ भी हो। दोनों ही स्थितियोंमें हम अपनेको छलते हैं। इस भ्रम-निवारणका सबसे अच्छा उपाय यह है कि हम 'जीवन' जैसे महान् और असीम शब्दको समझनेकी चेष्टा करें जबतक कि हम इसके अर्थकी गहराईमें प्रवेश न कर लें। वह काव्य जो नैतिकताका विरोधी है वस्तुतः जीवनका विरोधी है और जो नैतिकताके प्रति उदासीन है वह जीवनके प्रति उदासीन है।"[१]

कला और नैतिकताकी अन्योन्याश्रयिताके सिद्धान्तको ललित कलाओंके क्षेत्रमें रस्किन[२] ने और साधारण कलाओंके क्षेत्रमें विलियम मौरिस[३] ने बिना किसी संकोचके स्वीकार किया। रस्किनकी मूर्तिकला और चित्रकलाकी आलोचनाका स्वरूप बहुत कुछ उसीके शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त हुआ है—"हमारी इन कृतियोंमें कला-सम्बन्धी निबन्धोंकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें सारे विचार मानवीय भावना और मानवीय आशावादिताके सन्दर्भमें प्रस्तुत किए गए हैं"। और सचमुच नैतिकता और काव्यगत उत्कृष्टताकी अन्योन्याश्रयी

---

१. Essays in Criticism Vol. II

२. रस्किन, जॉन (Ruskin, John, १८१९-१९२०) प्रसिद्ध कलाविद् कवि और साहित्यकार। उसकी 'मॉडर्न पेण्टर्स', 'दी पोएट्री ऑव आर्किटेक्चर', 'स्टोन्स ऑव वेनिस', 'सेविन लैम्प्स ऑव आर्किटेक्चर' आदि कृतियाँ प्रसिद्ध हैं।—अनु०

३. विलियम, मॉरिस (William Morris) देखिए, पृ० ८८।

स्थितिका उतना जोरदार समर्थन हम अन्यत्र कहीं नहीं पाते जितना निम्न-लिखित गद्य-खण्डमें :—

"इसी प्रकार सभी सुन्दर मानवीय गान श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा उचित और श्रेष्ठ उद्देश्योंकी पूर्तिके प्रयत्नमें व्यक्त आह्लाद या दुःखकी भावनाके रूपमें हैं। जितना ही औचित्यपूर्ण उद्देश्य होगा और जितनी ही निर्मल भावना होगी उतनी ही श्रेष्ठ कलात्मक अभिव्यक्ति होगी। कलाकृतिकी सूक्ष्मता और श्रेष्ठता इस बातका प्रमाण है कि उसके माध्यमसे शुद्ध नैतिकता और गरिमामयी भावना व्यक्त हुई है। ऐसा सभी कलाओंके सम्बन्धमें कहा जा सकता है। किसी राष्ट्रकी कलाकृतियाँ उसकी नैतिक स्थितिका द्योतन करती हैं। इसमें तनिक भी भ्रान्ति नहीं है। इसे हम उसी प्रकार सत्य मान सकते हैं जिस प्रकार गणित के निर्णयको।"[१]

इसके अतिरिक्त, मैथ्यू आर्नल्डकी भाँति रस्किनने भी 'कला कल्पनाको प्रभावित करती है' इस सिद्धान्तको आगे बढ़ाया है। काव्य और कलायें जिन भावनाओंको पाठकों या श्रोताओंकी कल्पनाको प्रभावित करके उनके मनमें जाग्रत करती है उन भावनाओंका सामंजस्य उनकी जातीय परम्पराओंसे होना चाहिए।

"इसलिए मैं यह नहीं कहता कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जो सर्वाधिक आह्लाद प्रदान करती है क्योंकि कुछ ऐसी भी कलायें हैं जिनका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना नहीं शिक्षा प्रदान करना है। मैं यह भी नहीं कहता कि वही कला सर्व-श्रेष्ठ है जो हमें सर्वाधिक शिक्षा प्रदान करती है क्योंकि कुछ कलायें ऐसी है जिनका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना है, शिक्षा देना नहीं। मैं ऐसा भी नहीं कह सकता कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जिसमें सर्वाधिक अनुकरणकी प्रवृत्ति है क्योंकि बहुत-सी कलायें ऐसी हैं जिनका लक्ष्य अनुकरण करना नहीं सृजन करना है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वही कला सर्वश्रेष्ठ है जो दर्शक (श्रोता या पाठक) के मनमें, चाहे जिस प्रक्रियासे सम्भव हो, महान् भावनाओंकी उद्भावना करती है। मेरी दृष्टिमें महान् भावना वह है जो उच्चतर मानसिक धरातलपर

१. Lecture on Art, अध्याय ३, पृष्ठ ६७।

गृहीत होता है और मनकी जिस वृत्ति द्वारा गृहीत होती है उसे भी उन्नत करता है यदि महान् कलाकी यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाय तो महान् कलाकार की भी यही परिभाषा मान्य होगी। महान् कलाकार वही है, जिसने अपनी कृतियोंमें अधिकसे अधिक महान् भावनाओंकी उद्भावना की है।"[1]

दूसरी ओर उन्नीसवीं शतीके कुछ ऐसे लेखक हैं जिन्होंने 'कलाकी स्वच्छन्दता' के सिद्धान्तपर बल दिया है।

इनका दृष्टिकोण 'कला-कलाके लिए' वाक्यमें व्यक्त हुआ है। श्रेष्ठ गीतकार स्विनबर्न[2] ने इस सिद्धान्तको बहुत ही अच्छे ढंगसे व्यक्त किया है।

'कोई भी कलाकृति उसी स्थितिमें सजीव और मूल्यवान् होती है जब वह कलाके निरपेक्ष सिद्धान्तोंके आधारपर निर्मित होती है। वह तभी श्रेष्ठ, सुन्दर और उत्कृष्ट हो सकती है, जब वह केवल कलाके शुद्ध सिद्धान्तोंके प्रति उत्तरदायी हो'। काव्यके विषयमें वह लिखता है—

"कविताका मूल्य उसके नैतिक पक्षसे सम्बद्ध नहीं होता। वर्जिलने सीजरकी जो प्रशस्ति लिखी है या ड्राइडेन[3]ने स्टुअर्ट (Stuart) की जो स्तुति की है वह बेवियस (Bavius) या सेटिल (Settle) के देश-प्रेम और स्वातन्त्र्य प्रेमसे प्रेरित सर्वोत्कृष्ट अत्याचार विरोधी कथनोंसे कहीं अधिक मूल्यवान् और प्रीतिकर है।"[4]

वह फिर कहता है—

"सभी महान् कवियोंमें एक गहन शान्तिकी प्रेरणा होनी चाहिए, एक प्रकारकी ऐसी आध्यात्मिक ज्योति होनी चाहिए जो उनकी छोटीसे छोटी रचनाओंको भी शक्ति और आकर्षण प्रदान कर सके, एक ऐसी मधुरता होनी

---

१. Modern Painters, Vol. I, Pt. 1, Sec. 1, Chap. II, p. 9.

२. देखिए, पृष्ठ ८७।

३. ड्राइडेन, जॉन (Dryden, John, १६३१-१७००) कवि, नाटककार और आलोचक। सर्वाधिक ख्याति नाटककार के रूप में अर्जित की है। १६६८ ई० में 'पोएट लारियट' बनाया गया था। इसका सर्वश्रेष्ठ नाटक 'ऑल फॉर लव' (१६७८ ई०) माना जाता है। —अनु०

४. *Essays and Studies.*

चाहिए जो कभी भी क्षीण न हो, एक ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो कभी भी शिथिल न हो। उनमें श्रेष्ठताके प्रति एक ऐसी दृढ़ आन्तरिक निष्ठा होनी चाहिए जो किसी भी वैचारिक या शाब्दिक त्रुटि, दुर्बलता या दोषका निवारण कर सके, औचित्यके प्रति एक ऐसी स्वाभाविक प्रेरणा होनी चाहिए जो इस प्रकारकी किसी भी त्रुटिको असम्भव बना दे और काव्यकृतिको ऐसा सहज बना दे कि यह न प्रतीत हो कि त्रुटियोंको प्रयत्नपूर्वक बचाया गया है या गुणोंको प्रयत्न-पूर्वक उपलब्ध किया गया है।"[१]

स्विनबर्न (Swinburne)ने इस सिद्धान्तको जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, यद्यपि उसे आत्यन्तिक रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी 'कला'की निरपेक्षता प्रमाणित करनेके लिए यह मूल्यवान् है। यद्यपि रचनात्मक साहित्य और सामान्य रूपसे सभी कलाकृतियाँ प्रायः धर्म और देशभक्तिसे प्रेरणा ग्रहण करती हैं फिर भी उन्हें इनमेंसे किसी एकके साथ आत्यन्तिक रूपसे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। यद्यपि सत्यकी कसौटी तो यही चाहती है कि जो कुछ भी कवि लिखे वह मानव-जातिकी सामान्य मनोवृत्तिके अनुकूल हो, फिर भी कोई कविता या रचनात्मक साहित्य-कृति इसलिए अकलात्मक नहीं मानी जा सकती कि उसमें निहित दृष्टिकोणसे किसी आलोचक-विशेषका मतभेद है या वह कवि और कलाकारके देशके बहुतसे निवासियोंकी सम्मतिके प्रतिकूल है। यह निश्चित करना बहुत ही कठिन है कि कौन-सी बात मानवोचित आचार और भावनाके लिए मात्र सामयिक और स्थानीय दृष्टिसे असंगत है और कौन-सी बात ऐसी है जो वस्तुतः नैतिक मान्यताओंके प्रतिकूल होनेके कारण सामान्य मानवीय दृष्टिके अनुकूल हो ही नहीं सकती। इस स्वाभाविक कठिनाईके कारण और कलाकी निरपेक्ष स्थितिके प्रति पूर्ण आस्थाके अभावमें प्रायः सभी महान् लेखकोंके प्रति उनके समसामयिक समीक्षकोंने अनैतिकता और अस्पष्टताका आरोप किया है। इस कठिनाईकी स्वाभाविकता तथा परम्परागत या राष्ट्रीय भावनाओंसे साधारण बिलगाव और सामान्य मानवीय भावनाकी विरोधी प्रवृत्तिको प्रमाणित करनेके लिए दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। कोलरिज[२]की प्रसिद्ध कविता 'क्रिस्टबेल'की

१. *Essays and Studies.*

२. कोलरिज, सेमुयल टेलर (Coleridge, Samuel Taylor १७७२-१८३४)

समीक्षा करते हुए उस समयकी 'ऐडिनबरा' नामक पत्रिकामें कहा गया कि वह व्यर्थकी कल्पना और बकवास है। 'वर्ड्सवर्थकी' 'इंटिमेशंस ऑव इम्मारटैलिटी'पर लिखी गई 'ओड' (लघु गीत)को संग्रहकी सर्वाधिक अस्पष्ट और अगम्य कविता कहा गया। शैली[1]को राय दी गई कि वह अपनी कविताओंके साथ ही उनमें प्रयुक्त दुर्बोध शब्दोंकी सूची भी प्रकाशित करे[2]। सदे (Southey) और वर्ड्सवर्थ, जो आध्यात्मिक कवि माने जाते हैं, के नैतिक आदर्शोंको प्रारम्भमें खतरनाक बताया गया। इसका कारण यह था कि ये 'लेक कवि'[3] रूसो[4]की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण करते थे और सामाजिक संगठनके प्रति उसके असन्तोषके समर्थक थे। चार्ल्स किंग्सले[5] (१८१९-७५)के उपन्यास 'एस्ट' (Yeast)की गार्जियन पत्रने निन्दा की। उसमें कहा गया कि "इसमें लेखकने वर्तमान समयकी निकृष्ट प्रवृत्तियों को व्यक्त किया है और जिस ढंगसे उसने दार्शनिक शब्दावली तथा लच्छेदार भाषामें अवांछित नैतिक मूल्योंको छिपाकर सुरक्षित रखनेकी कोशिश की है

प्रसिद्ध कवि और आलोचक। इसने दो-तीन नाटक भी लिखे हैं। इसकी स्थापना है कि काव्य का उद्देश्य सौन्दर्य के माध्यम से आनन्द प्रदान करना है। —अनु०

१. शैली (Shelley, १७९२-१८२२) प्रसिद्ध रोमैंटिक कवि। आक्सफोर्डमें शिक्षित। श्रेष्ठ गीतिकार। 'ओड टू दी वेस्ट विंड', 'टू ए स्काइलार्क', 'दि क्लाउड' आदि उसकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। —अनु०

२. सदे (Southey १७७४-१८४३) कवि, नाटककार और गद्य-लेखक। १८१३ ई० में पोएट लॉरियट बनाया गया। उसकी छोटी कविताएँ अब भी लोकप्रिय हैं। —अनु०

३. वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज और राबर्ट सदे लेक पोयट्स के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि इन्होंने अपने जीवन के कुछ वर्ष लेक डिस्ट्रिक्ट नामक सुन्दर प्रदेश में व्यतीत किए थे। —अनु०

४. रूसो (Rousseau १७१२-७८) जेनेवा में पैदा हुआ था। घड़ीसाज का लड़का था। अपने समय का महान् विचारक और साहित्यकार। इसकी स्थापना है कि समाज का विकास समझौते के आधार पर हुआ है। कन्फेशन्स (*Confessions*) में इसने अपनी जीवन-गाथा प्रस्तुत की है। यह इसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। —अनु०

५ किंग्सले (Kingsley, Charles, १८१९-७५), प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ—और साहित्यकार कैम्ब्रिजमें मॉडर्न इतिहास का प्रोफेसर था। इसने कई उपन्यास लिखे हैं। इसका प्रसिद्ध उपन्यास "ईस्ट" १८४८ ई० में प्रकाशित हुआ था। —अनु०

उसकी खुले शब्दोंमें निन्दा होनी चाहिए"। ये उदाहरण, जिनकी संख्या आसानी-से बढ़ाई जा सकती है, यह स्पष्ट करनेके लिए पर्याप्त हैं कि रचनात्मक-साहित्यके विद्यार्थीको उपर्युक्त आधारोंपर किसी भी नवीन कलाकारकी प्रतिकूल समीक्षा करनेके पहले सोच-विचार लेना चाहिए; क्योंकि कलाकी निरपेक्ष सत्ताकी स्वीकृतिपर ही रचनात्मक-साहित्यका कलात्मक वैभव ही नहीं वरन् उसका नैतिक मूल्य भी आधृत है, जो साहित्यको गति देनेके लिए एक बहुत बड़ी शक्ति है। श्रीमती ब्राउनिंग[1]की प्रसिद्ध कृति 'अरोरा ले', जिसमें स्वयं उन्हींके अनुसार जीवन और कलाके सम्बन्धमें उनकी श्रेष्ठ धारणाएँ निहित हैं, में यह भावना सर्वोत्तम ढंगसे व्यक्त हुई है। कवियोंके विषयमें आप कहती हैं कि ईश्वरके बाद यदि कोई सत्य कहनेवाला है तो वे केवल कवि ही हैं।

परम्परावादिताके विरुद्ध इस जोरदार अपीलके साथ ही उसने पेशेवर समीक्षकोंके विरुद्ध भी आवाज उठाई है। कलाकी निरपेक्षताका सिद्धान्त निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है किन्तु जिस आत्यन्तिक रूपमें स्विनबर्न (एल्गरनान चार्ल्स स्विनबर्न, १८३७-१९००)ने इसे आगे बढ़ाया है, उस रूपमें इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्विनबर्न कहता है—"कोई भी कलाकृति जो कलाके विशिष्ट सिद्धान्तोंकी कसौटीपर श्रेष्ठ नहीं उतरती जीवन्त या मूल्यवान् नहीं मानी जा सकती। कलाकृति मात्र कला-सिद्धान्तोंके प्रति ही उत्तरदायी है"। पहली बात तो यह है कि केवल कलाके विशिष्ट सिद्धान्तोंको स्वीकार करके ही कोई भी कलाकृति उस कोटिकी आनन्द भावनाकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती जिसे मानवताकी स्वीकृति पानेके लिए किसी भी कलाकृतिको निश्चय ही व्यक्त करना चाहिए। यदि हम उन वास्तविक परिस्थितियोंकी जाँच करें जो इस प्रकारकी आनन्द-भावनाकी अभिव्यक्तिको सम्भव बनाती हैं तो हमें उस विरोधी विचार-धाराकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिका ज्ञान हो सकता है जिसमें यह कहा जाता है कि कलाकी श्रेष्ठताकी सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसे सामान्य मानवीय भावनाके अनुकूल होना चाहिए। किसी भी कलाकृतिके सम्पर्कमें आनेपर जो आनन्द-भावना उत्पन्न होती है उसका आधार केवल बाह्य उत्तेजना ही नहीं

---

१ श्रीमती एलिजाबेथ बैरेट ब्राउनिंग (१८०६-६१)। प्रसिद्ध कवि राबर्ट ब्राउनिंग की धर्मपत्नी।—अनु०

होती अर्थात् किसी भी चित्रको देखने या कविताको सुननेसे हमें केवल इसलिए आनन्द नहीं आता कि इन्द्रियोंके माध्यमसे गृहीत संवेदना हमारी कल्पनाको तुष्ट करती है वरन् हमें इसलिए भी आनन्द आता है कि हमारे प्रभावित मनकी प्रतिक्रिया अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। मानव-मन दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो आनन्दके उद्भवमें बहुत कार्य करता है। यह मन एक प्रकारका सामाजिक माध्यम है क्योंकि सम-सामयिक भावनायें और विचार इसमें पुंजीभूत होते हैं। इसलिए यदि कोई कलाकार पाठक, श्रोता या द्रष्टाको प्रसन्न करना चाहता है तो उसे ऐसी सामग्री प्रस्तुत करनी चाहिए जो समसामयिक विचारधारा और भावनाके प्रतिकूल न होकर अनुकूल हो। इस तर्कको और आगे बढ़ाया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि कलाकारका महत्त्व कला-विशेषज्ञके निजी सिद्धान्तोंको मानव-मनके अनुकूल मोड़कर दोनोंमें सन्तुलन स्थापित करनेमें है। इस प्रश्नपर दूसरे दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि किसी एक कविता, एक चित्र या संगीत-रचनामें एक वह पक्ष होता है जो मुख्यतः उपर्युक्त कलाओंके विशेष पारखियोंको प्रभावित करता है और दूसरा एक ऐसा पक्ष होता है जो जनसाधारणको भी प्रभावित करता है। यह दूसरा पक्ष स्वभावतः पहलेकी अपेक्षा अधिक मात्रामें प्रस्तुत होना चाहिए। यद्यपि विशेष टेकनिकल मामलोंमें जनसाधारणकी राय लेना व्यर्थ है किन्तु किसी भी कलाकृतिके सामान्य प्रभावकी व्यापकता जाँचनेके लिए उनकी सम्मति लेना अनिवार्य है क्योंकि काव्य या चित्र मात्र कवियों और कलाकारोंके लिए ही नहीं प्रस्तुत किया जाता, उसकी रचना तो समग्र विश्वके लिए होती है। किसी भी कला-कृतिका महत्त्व और मूल्य निर्धारित करनेमें जनसाधारणका भी अधिकार मान्य होना चाहिए और सचमुच किसी भी कृतिकी सफलता या असफलताका निर्णय बहुत कुछ जनसाधारण द्वारा ही किया जाता है। यह हमारे सामान्य अनुभवकी बात है। ऐसी स्थितिमें क्या कलाकी श्रेष्ठताकी कसौटी, जो किसी एक विशिष्ट वर्ग या पेशेके लोगोंकी ही वस्तु नहीं है, सभी बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियोंकी कला-विषयक धारणा ही नहीं मान्य हो सकती? कला-विशेषज्ञके सिद्धान्त तो कुछ कला-मर्मज्ञोंको ही ज्ञात होते हैं। अतः उन्हें निर्णायक तत्त्व नहीं मानना चाहिए। यह सही है कि जनसाधारणकी कलात्मक रुचि युगके

अनुकूल परिवर्तित होती रहती है, यही नहीं वह नैतिक मूल्योंकी भाँति समाजके विभिन्न स्तरोंमें अलग-अलग कोटिकी भी हो सकती है किन्तु फिर भी समाजमें एक ऐसी सामान्य मनोभूमि उपलब्धकी जा सकती है जिसे कलाके मूल्याङ्कनका शाश्वत आधार मान सकते हैं। यदि हम इस प्रकारकी कसौटीके अस्तित्वमें विश्वास करें और यह स्वीकार करें कि कलाकी श्रेष्ठताका सच्चा मानदण्ड उसका 'सामान्य मानवीय-भावनाके अनुकूल होना है' तो कलाकृतिके विश्वव्यापी प्रभावकी बात मान्य हो सकती है और इसके अच्छे या बुरे प्रभाव की बात एक ऐसा तथ्य बनकर सामने आती है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हमारी उपर्युक्त मान्यता रस्किन[1]के कला-विषयक मूल सिद्धान्तके अत्यन्त निकट है। अपने 'मॉडर्न पेण्टर्स' (१८४३-६०) नामक ग्रन्थमें वह कहता है—"चित्रकलाका प्रत्येक सिद्धान्त, जिसका मैंने उल्लेख किया है, किसी-न-किसी आध्यात्मिक या जीवन सम्बन्धी तथ्यपर आधृत है और शिल्पकलापर लिखते हुए, सम्प्रदाय-विशेषकी मान्यताओं से सहमत होनेके पूर्व मैंने श्रमिकोंपर उन सिद्धान्तोंके प्रभावकी भलीभाँति परीक्षा कर ली है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी शिल्पकलाके प्रत्येक लेखकने उपेक्षा की है"। रस्किनके अनुसार किसी भी कला-कृतिका अच्छा या बुरा प्रभाव केवल उसकी श्रेष्ठताका ही निर्णायक नहीं है वरन् एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्लेटोकी भाँति उसने भी इसी धारणापर अपने सम्पूर्ण कला-विषयक सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। उसने कलाके प्रत्येक रूपके सम्बन्धमें इसी आधारपर अन्तिम निर्णय लिया है। चित्रकलाके सम्बन्धमे वह कहता है—'कोई भी गर्वमत्त और स्वार्थी व्यक्ति कुशल चित्रकार नहीं हो सकता। मात्र कुशलता या विशेष प्रतिभाके बलपर कोई भी बड़ा कलाकार नहीं हो सकता'। शिल्प-कलाके सम्बन्धमें भी यही नियम लागू होता है। इसी नियम-के आधारपर गॉथिक शैलीको सर्वोत्तम माना जाता है। 'एक दृष्टिसे तो गॉथिक शैली न केवल शिल्पकलाकी सर्वोत्तम शैली है वरन् यही एकमात्र बुद्धि-संगत

---

[1] जॉन रस्किन (१८१९-१९००)। विक्टोरियन युगके लेखक और विचारक। 'मॉडर्न पेंटर्स' (१८४३-६०), 'दि सेविन लैम्प्स ऑव आर्किटेक्चर' (१८४९), 'दि स्टोन्स ऑव वेनिस' (१८५१-३), 'अन्टू दि लास्ट' (१८६२), 'सेसेम एण्ड लिलीज' (१८६५), आदि इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।—अनु०

शैली भी है क्योंकि इसका प्रयोग स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकारके निर्माणोंमें सरलतापूर्वक किया जा सकता है।' यह एक ऐसी शैली है जिसमें छतके ढलाव स्तम्भोंकी ऊँचाई, कक्षद्वारोंके घुमाव और फर्श-निर्माण आदिके विषयमें किसी प्रकारकी रूढ़ नियमबद्धता नहीं है। कँगूरे और गुम्बद, विस्तृत कक्ष, चक्करदार सीढ़ियाँ, ऊँचे-ऊँचे शिखर आदि सभीके निर्माणमें यह शैली अपने पूर्ण गौरवके साथ प्रयुक्त हो सकती है।' जैसा कि हमने देखा है, रस्किनकी दृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ कलाकार वह है 'जिसने अपनी कलाकृतियोंके निर्माणमें सब मिलाकर महान्से महान् भावनाओंका सन्निवेश किया है और कठोरतापूर्वक किया है। चित्र-कलाके यथार्थवादी स्कूलके सम्बन्धमें वक्तव्य देते हुए यद्यपि उसने रॉसेटीको इंगलैण्डमें आधुनिक रोमेण्टिक प्रवृत्तिके उन्नायकोंमें प्रमुख प्रतिभाशाली व्यक्ति स्वीकार किया है फिर भी वह निर्णय देता है कि हालमैन हंट उससे कहीं महान है क्योंकि वह ईसाई धर्मके प्रति आस्थावान् था। 'रोसेटी प्राचीन और नवीन टेस्टामेण्ट्सको ही सर्वाधिक महान् काव्य समझता था, उसने उसके कथा-चित्रों का अंकन किया किन्तु उसने सामयिक मानव जीवन एवं कार्य-व्यापारकी दृष्टिसे प्राचीन और नवीन टेस्टामेण्ट्सको उतना ही महत्त्व दिया जितना 'मार्टे डी आर्थर' (Morte d' Arthur) और 'वाइटा नोवा' (Vita Nuova) को। लेकिन हॉलमन हंट (Holman Hunt) के लिए नवीन टेस्टामेण्ट (Testament) की कहानी न केवल वास्तविकता थी, न केवल महत्तम वास्तविकता थी वरन् वही एकमात्र वास्तविक कहानी थी। वह नवीन टेस्टामेण्टको प्राचीन शुद्ध कैथोलिक ईसाईकी दृष्टिसे देखता था। इस धार्मिक तत्त्वकी कमीके कारण उसकी क्षमताका ह्रास हुआ और जो कार्य औरोंके लिए सरलतम थे, उन्हें उसने एकदम अशोभन ढंगसे पूरा किया।

रस्किनने कला और नैतिकताके सम्बन्धपर विचार करते हुए जो वक्तव्य दिया है, वह स्विनबर्नकी मान्यताओंका विरोधी है। स्विनबर्नके अनुसार 'कविता-का मूल्य उसके नैतिक पक्षसे सम्बद्ध नहीं होता। वर्जिल (Virgil) ने सीजर-की जो प्रशस्ति लिखी है या ड्राइडेन (Dryden) ने स्टुअर्टकी जो स्तुति की है वह वेविथस या सेटिलके देश प्रेम और स्वातन्त्र्य भावनासे प्रेरित अत्याचार विरोधी सर्वोत्कृष्ट वक्तव्योंसे कहीं अधिक मूल्यवान् और प्रीतिकर है'। जो कुछ

भी हो, महत्त्वपूर्ण यह है कि इस जटिल विषयपर निर्णय देना आसान नहीं है। इसीलिए इतने समर्थ समीक्षक भी पूर्णतः दृढ़ नहीं रह सके हैं। रस्किन जब कल्पना-शक्तिके सम्बन्धमें लिखता है तो वह लगभग स्विनबर्नके ही समान निश्चय पूर्वक कहता है कि कलाकारमें यह शक्ति ही सर्वोपरि महत्त्व की चीज है और विषय वस्तु गौण तत्त्व है। वह कहता है—'कलाके क्षेत्रमें तर्कका कोई स्थान नहीं है। यह बीजगणित या चल-राशिकलन जैसी क्रियाओंकी निश्चित गणना-पद्धति का अनुसरण नहीं करती। यह मनकी वाणी है। यह हृदय द्रावक होती है। यह प्रस्तर हृदयोंको भी प्रभावित और प्रेरित करती है। विषयवस्तु कुछ भी हो। कल्पना-शक्तिके संस्पर्शसे वह विशिष्ट हो जाती है। कवि या चित्रकारकी प्रत्येक महान् धारणा इसी कल्पना-शक्तिपर आधृत होती है।'[१] जब कि स्विनबर्न जब किसी विशेष कविताकी आलोचना करनेको होता है तो किसी-न-किसी सामाजिक या नैतिक दृष्टिकोणको कलात्मक ह्रासका कारण बताता है। इसीलिए उसने 'अरोराले' (Aurora Leigh) की स्वाभाविक रमणीयतामें सीजरवाद और ईसाई धर्म-प्रेरित समाजवादकी प्रतिकूलताओंको ही बाधक बताया है[२]।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणोंमें सत्यका अंश है किन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। रस्किन ने कलाकी श्रेष्ठताकी कसौटी यह माना था कि उसमें महान् भावनायें अधिकसे अधिक संख्यामें सन्निहित हों। यह कसौटी किसी भी कलाकृतिके बाह्य और वस्तुगत मूल्याङ्कनके लिए उचित है। अपने वस्तुगत रूपमें कला भौतिक सौन्दर्य के माध्यमसे नैतिक सौन्दर्यको व्यक्त करती है या उसकी व्याख्या करती है[३]। किन्तु यह कसौटी कलाके व्यक्तिनिष्ठ मूल्याङ्कनमें असमर्थ सिद्ध होती है। अपने व्यक्तिनिष्ठ रूपमें कला कलाकारकी मनोभावनाकी अभिव्यक्ति है। यह एक धारणा है जो कृतिके रूपमें साकार होती है[४]। स्विनबर्नकी यह कसौटी कि 'कला केवल कलाके विशिष्ट सिद्धान्तोंकी ही अनुवर्त्तिनी है' कलाकृतिके व्यक्तिनिष्ठ रूपका ही मूल्याङ्कन करनेमें समर्थ है। कलाकारको अपनी भावनाओंका निर्माण

१. आधुनिक चित्रकार।
२. स्टडी ऑव विक्टरह्यूगो।
३. कजिन (Cousin).
४. वही।

करते समय महानताक सिद्धान्तका अनुसरण करना चाहिए किन्तु उ ह यक्त करते समय उसे कलाके विशिष्ट नियमोंका पालन करना चाहिए। न तो वह इस सीमातक स्वतन्त्र हो सकता है कि सम्पूर्ण मानव-समुदायकी उपेक्षा कर मात्र कलात्मक वैशिष्ट्यको अपना उद्देश्य बना ले और न वह इस सीमातक मानव-मूल्योंमें ही बँध सकता है कि उनके लिए अपनी रचनाकी कलात्मक रमणीयताको ही समाप्त कर दे।

अध्याय ७

साहित्यमें मूल्योंका आकलन

पिछले अध्यायोंमें कुछ महान् विचारकों (प्राचीन और नवीन)के साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोणोंके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इन उदाहरणोंसे हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्यकी उन महान् कृतियोंमें हमें कौन-कौन-सी विशेषतायें देखनी चाहिए जो मनुष्य-समाजकी साहित्यिक परम्परामें महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी हैं और उन नवीन कृतियोंमें, जो अभी यह गौरव नहीं प्राप्त कर सकी हैं, किन गुणों और विशेषताओंकी उपलब्धिकी आशा करनी चाहिए।

व्यापक रूपसे विचार किया जाय तो साहित्य-समीक्षाका विकास, जैसा कि विभिन्न युगोंमें होनेवाले समीक्षकोंकी समीक्षा-कृतियोंके तुलनात्मक अध्ययनसे प्रकट है, नवीन साहित्यिक मूल्योंकी स्वीकृतिके रूपमें उतना नहीं हुआ है जितना कि पहलेसे ही मान्य और स्वीकृत विशेषताओं एवं मूल्योंको ठीकसे परिभाषित तथा पूर्णतः निर्धारित करनेके प्रयत्नमें हुआ है। इन आवश्यक विशेषताओंको स्पष्ट करनेके लिए निरन्तर नवीन और अपेक्षाकृत उचित कसौटियोंका प्रयोग किया जाता रहा है। जैसा कि हम पहले लक्ष्य कर चुके हैं साहित्यके तीन प्रमुख तत्त्व—वस्तु, शैली और आनन्ददायिनीशक्ति हैं। 'वस्तु'से तात्पर्य विचारोंको समाविष्ट करनेका गुण या संसारकी समस्याओंको व्यक्तिगत दृष्टिसे देखना है। शैलीसे तात्पर्य साहित्यकृतिकी विधा-विशेषके अनुकूल इन विचारोंको उचित रीतिसे प्रस्तुत करनेकी विशेषतासे है। साथ ही, यदि साहित्य-कृतिको आनन्द-दायिनी भी होना है तो आवश्यक है कि वह पाठककी कल्पना-शक्तिको प्रभावित करे। कलाको यह आवश्यक धर्म है। कला, जगत्की वस्तुओंको हमारे अधिक निकट ला देती है। हम उनके प्रति एक प्रकारका अपनापन अनुभव करने लगते है। इसीसे काव्यगत सत्य वैज्ञानिक सत्यकी तुलनामें अधिक सरलतासे ग्राह्य हो जाता है।

साहित्यकी उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ उसी समयसे लक्ष्यकी जाने लगी थीं जबसे मनुष्यने अनुभव किया कि साहित्यका भी एक विशिष्ट और निश्चित क्षेत्र है और इस क्षेत्रमें भी उच्चकोटिकी मानसिक शक्तिके संचारकी पर्याप्त गुंजाइश है। उदाहरणके लिए, प्लेटोको साहित्यकी इन तीनों विशेषताओंका ज्ञान था और उसने साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता सर्वोत्तम विचारोंकी प्रेषणीयता माना था। लेकिन इस विशेषताको परखनेके लिए उसने जो कसौटी स्वीकारकी थी वह वास्तविकताकी घोर तथ्यपरक उपस्थिति थी जो वस्तुतः रचनात्मक साहित्यमें बहुत कम पाई जाती है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि उसने अभिव्यक्ति-मूलक सत्यको (कलाके सत्यको) अनुकृतिमूलक सत्यकी कसौटीपर परखना चाहा। या, जैसा कि अरस्तूने इंगित किया है, उसने कविके सत्य और इतिहासके सत्यमें—अनुभूतिके सत्य और तर्कके सत्यमें—अन्तर ही नहीं किया। इसके बाद अरस्तूने यह अनुभव करते हुए कि रचनात्मक-साहित्य, इतिहास और दर्शन की सापेक्षितामें मनको भिन्न रूपमें प्रभावित करता है, सोचा कि साहित्यकी इस विशेषताको परखनेका सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन विभिन्न काव्य-रूपोंकी तुलनाकी जाय जिनमें महत्त्वपूर्ण और मान्य काव्य-कृतियाँ रची गई हैं। लेकिन अब हम यह मानकर चलते है कि एक कथाकार चाहे वह गद्यमें लिखता है या पद्यमें—अपने लिए उचित और आवश्यक काव्य-रूप चुनकर रचना करने बैठा है और हम प्रमुखतः उसकी रचनाके सामूहिक प्रभावपर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। हम यह देखते हैं कि उसकी रचना पाठककी कल्पना-शक्तिको प्रभावितकर सकी है या नहीं? हम इस बातकी चिन्ता नहीं करते कि इस प्रभाव-शक्तिको उपलब्ध करनेमें कथाकारने अपनी रचना-सामग्रीको किसी पूर्वस्थित काव्य-रूपके निर्धारित साँचेमें ढालकर प्रस्तुत किया है या नहीं।

यदि हम काव्यके उन नियमोंको जिनका सम्बन्ध कथावस्तुके संगठन, छन्द, भाषा या शैली या इसी प्रकारके अन्य सामान्य काव्य-तत्त्वोंसे होता है 'रीति' कहें और उन नियमोंको जिनका सम्बन्ध काव्यकी सामूहिक प्रभाव-क्षमतासे होता है 'सिद्धान्त' कहें और इस प्रकार 'रीति' और 'सिद्धान्त'में अन्तरकर लें तो हम कह सकते हैं कि समीक्षा अपने विकास क्रममें क्रमशः 'रीति'की उपेक्षा करती आयी है और उसने अपना ध्यान सिद्धान्तोंके विवेचनमें केन्द्रित किया है। 'रीति'

काव्यके उन गुण-दोषोंको प्रकट करती है जो युगके अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं जबकि सिद्धान्तोंका सम्बन्ध काव्यके नित्य और विश्वजनीन गुणोंसे होता है या यों कहिए कि इनका सम्बन्ध मानव-मनकी मौलिक प्रवृत्तियोंसे होता है। मानव-जीवनकी परिवर्तनशील ऊपरी व्यवस्थासे ये गुण अप्रभावित रहते हैं। समीक्षाका मूल्य इस बातपर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक काव्यके इन परिवर्तनशील और अनित्य गुणों तथा शाश्वत और सार्वभौम गुणोंमें अन्तर कर सकी है।

समीक्षाके क्षेत्रमें इस परिवर्तनका प्रभाव हमें समसामयिक समीक्षककी आलोचनामें देखनेको मिलता है, चाहे वह प्रख्यात और मान्य ग्रन्थोंका विवेचनकर रहा हो चाहे नवीन कृतियोंके सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त कर रहा हो। जब वह मान्य ग्रन्थोंकी समीक्षा करता होता है तब एक प्रकारसे मूल्योंका आकलन न करके कृतिकी व्याख्या ही प्रस्तुत करता है वह कृतिकी त्रुटियों या असफलताओंका अन्वेषण नहीं करता—या यदि करता है तो विरोधात्मक मूल्योंको और अधिक उभाड़नेके लिए करता है—बल्कि इन स्वीकृत सिद्धान्तोंके प्रयोगपर आधृत कसौटियोंसे प्रकट होनेवाली विशेषताओंकी खोज और व्याख्यामें ही अपनेको लगाए रखता है। वह लेखककी अपेक्षा पाठकसे अपना सम्बन्ध अधिक रखता है क्योंकि उसका प्रमुख उद्देश्य लेखककी विशिष्ट सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों तथा उसकी निजी देनसे हमें परिचित कराना होता है। वह हमे यह भी बताना चाहता है कि कहाँ तक यह निर्णयात्मक प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ उसकी रचनाओंमें बिम्बित हैं। इस प्रकार लेखकके दृष्टिकोण और उद्देश्यको स्पष्ट करने वाली सूचनाओंसे अवगत कराकर वह हमें आत्मनिर्णय करने की स्थितिमें ला देता है। एक शब्दमें कहा जा सकता है कि स्वीकृत ग्रन्थोंकी विवेचना करने वाली यह समीक्षा एक प्रकारसे साहित्यकी व्याख्याका रूप ले लेती है। समसामयिक कृतियोंकी समीक्षा करते समय आलोचककी कठिनाई बढ़ जाती है। वह अधिकसे अधिक सामयिक निर्णय दे सकता है किन्तु इस निर्णय तक पहुँचनेमें वह 'रीति, तत्त्व' या काव्यके अनित्य गुणोंकी अवहेलना करके उन नित्य तत्त्वोंका आधार लेता है जो काव्यकी वस्तु, शैली और कल्पनाको प्रभावित करनेकी क्षमता जैसे विशिष्ट गुणोंका आकलन करते हैं। निश्चय ही सामयिक

कृतियोंके मूल्याङ्कनमें व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियोंका निर्देश करनेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं किया जाता। सामान्यतःऐसी कृतियाँ जिनमें व्याकरणके नियमोंकी अवहेलनाकी जाती है साहित्यकी कोटिमें नहीं आतीं। इसलिए उनकी ओर समीक्षकको ध्यान देनेकी आवश्यकता भी नहीं होती। मैंने सामान्यतः शब्दका प्रयोग इसलिए किया है कि व्याकरण सम्बन्धी नियम भी बड़े लेखकोंके परम्परागत निरीक्षणके आधारपर निर्मित होते हैं और उनके औचित्यका निर्णय भी परम्परागत प्रयोगोंके आधारपर ही किया जाता है। इसलिए इन त्रुटियोंको लक्ष्य करते समय लेखकके प्रति थोड़ी उदारता बरतनी चाहिए क्योंकि जिस काव्य-परम्पराने उनका निर्माण किया है वही उनमें परिवर्त्तन भी ला सकती है, साथ ही नियम-भंग होनेपर नियमके आन्तरिक उद्देश्यकी रक्षाकी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। इस एक अपवादको छोड़कर, सामयिक समीक्षा नवीन कृतियोंके सम्बन्धमें अपना सामयिक निर्णय देते समय ऐसे सिद्धान्तोंका आधार लेती है, जिनका उद्देश्य आलोच्य कृतिमें उन गुणोंकी उपस्थिति या अनुपस्थिति दिखाना होता है जिन्हें हम अपने परम्परागत अनुभवके आधारपर पूर्ववर्ती प्रतिभाओंकी महान् कृतियोंमें देखने और प्रशंसा करनेके अभ्यस्त हो चुके होते हैं। और चूँकि हमें सामयिक साहित्य और प्राचीन महान् कृतियाँ दोनोंको ही पढना पड़ता है इसलिए हमें उन सिद्धान्तोंकी जानकारी होनी ही चाहिए, जिनके आधारपर हम अपने सम्मुख नित्य प्रस्तुत होने वाली कृतियोंको चुनने, परखने और उनकी प्रशंसा करनेके सम्बन्धमें आत्मनिर्णय ले सकें। इन समसामयिक कृतियोंका अपना एक निजी मूल्य और आकर्षण होता है, जो उनके तथाकथित रूढ़ साहित्यिक मूल्यसे स्वतन्त्र होता है। ये हमारे चारों ओर बिखरी हुई जिन्दगीसे प्रेरित होती हैं। ये ऐसे प्रश्नोंको बिम्बित और विवेचित करती हैं, जिनमें हम सभीकी दिलचस्पी होती है और जिनका हम सद्यः समाधान चाहते हैं। वे सामयिक दृष्टिसे प्राणवान होती हैं, केवल इसलिए कि वे हमारे किसी निकट पड़ोसीके मस्तिष्ककी उपज होती हैं। इसके अतिरिक्त जब तक यह न मान लिया जाय कि अंग्रेजी साहित्यका स्रोत अकस्मात् सूखने जा रहा है, हमें इन्हीं सामयिक कृतियोंमें भविष्यकी महान् रचनाओंकी सम्भावना भी करनी होगी।

काव्य-कृतिओंका मूल्याङ्कन करने वाले सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें अब तक हम

जो कुछ जानकारी कर सके हैं यदि उन्हें साफ ढंगसे एकत्रकर दें तो किसी भी कृतिके सम्बन्धमें निर्णय लेनेमें हमें सरलता होगी।

पहला सिद्धान्त, ऐतिहासिक विकास-क्रम और महत्त्व दोनों दृष्टियोंसे, सत्यके सन्निवेशका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके आधारपर हम किसी भी रचनात्मक साहित्य-कृतिमें इस बातकी सम्भावना करते हैं कि वह हमारे जीवनके तथ्यों और भौतिक परिस्थितियोंके समानान्तर ही अपने सम्प्रेष्य सत्यका निर्माण करेगी। अर्थात् कृतिका सम्प्रेष्य जीवनके तथ्योंके समानान्तर होगा। यह सबसे मूल्यवान् सिद्धान्त है क्योंकि इसीकी कसौटीपर हम किसी भी रचनाके सम्बन्धमें यह निर्णय ले सकते हैं कि वह सामान्य मानवीय भावनाके अनुकूल है या नहीं ? किसी भी महान् कृतिका यह सबसे बड़ा गुण है कि वह सामान्य मानवीय भावनाके अनुकूल हो। इसी गुणके कारण कोई भी कृति मनुष्यकी बौद्धिक परम्पराके विकास-क्रममें स्थायी महत्त्व प्राप्त करती है। संसारकी विचार-सम्पत्तिमें नवीन चिन्तनका एक भी कण प्रदान करना किसी भी साहित्य-कृतिके लिए सर्वाधिक गौरव और महत्त्वकी बात है और इस नवीन चिन्तन-कणको इस रमणीय ढंगसे प्रस्तुत करना कि वह पाठककी कल्पना-शक्तिको प्रभावित करके उसे उल्लसित कर दे, किसी भी रचनात्मक साहित्य-कृतिके लिए सर्वाधिक महत्त्वकी बात है।

इस प्रकार किसी भी साहित्य कृति की श्रेष्ठता की अन्तिम कसौटी सत्य है। यदि हमें वर्ण्यवस्तु (matter) और शैली (manner) दोनोंमें किसी एकको चुनना हो तो हम शैलीके मूल्यपर वस्तु-तत्त्वको ही ग्रहण करना चाहेंगे। कोई भी साहित्य-कृति जो जीवनकी वास्तविकताको अभिव्यक्त नहीं करती या जो मानवकी सामान्य धारणाओं और विश्वासोंकी अवहेलना करने वाली होती है, चाहे जितनी भी कलात्मक क्यों न हो, व्यर्थ है।

साहित्यमें व्यक्त होने वाला सत्य सारभूत तत्त्व है। साहित्यमें व्यक्त होने वाले सत्य और जीवनके तथ्यकी समानान्तरताका स्वरूप साहित्यके विभिन्न स्वरूपोंके संदर्भमें परिवर्तित होता रहता है। इसलिए साहित्य-रूपोंकी प्रकृतिको दृष्टिमें रखकर ही इस बातका निश्चय करना चाहिए कि किस साहित्य-कृतिमें कहाँ तक जीवनके तथ्यकी कम या अधिक अभिव्यक्ति हुई है। एक दार्शनिक, इतिहासकार या जीवनी-लेखकसे हम जिस सत्यकी आशा करते हैं वह मात्र

तथ्य है, एक ऐसा सत्य है जो सत्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह ऐसा ही है जैसे कोई साक्षी न्यायालयमें दृष्ट घटनाका यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत कर रहा हो जिसको न दबाया जा सकता है न उभारा जा सकता है। जिसमें सूचनाको स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत किया जाता है; तिथि, संख्या आदि बिल्कुल ठीक-ठीक बताई जाती है, घटनाओंको क्रमबद्ध रूपमें सजाकर उपस्थित किया जाता है और एकदम तटस्थ भावसे सम्मति दी जाती है। एक निबन्ध-लेखक या यात्रा-साहित्यकी रचना करने वाले या अन्य किसी वर्णनात्मक साहित्य-प्रणेतासे हम तथ्योंकी उपस्थितिमें इस प्रकारकी यथातथ्यताकी आशा नहीं करते। वह दृष्ट व्यक्तियों और स्थानोंका थोड़ा अनुरंजित वर्णन भी कर सकता है। क्योंकि यहाँ व्यक्तिगत दृष्टिकोण अधिक कार्य करता है और वह दृष्ट वस्तुओंका यथा-तथ्य वर्णन न करके आदर्शीकरणकी प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित चित्र उपस्थित करता है। अर्थात् वह हमें यह नहीं बताता कि उसने क्या देखा ? क्या सीखा ? बल्कि विविध प्रकारके व्यक्तियोंसे मिलकर और अनेक प्रकारके प्राकृतिक दृश्योंको देखकर उसने क्या प्रभाव ग्रहण किया ? क्या अनुभव किया ? उसका चित्र प्रस्तुत करता है। और यह कहा जा सकता है कि वह हमारे समक्ष विविध प्रकारके मनुष्यों और उनके रीति-रस्मों तथा प्राकृतिक दृश्योंका अधिक वास्त-विक और विश्वसनीय चित्र उपस्थित करता है। क्योंकि उसका ध्यान वर्ण्य-वस्तु द्वारा उत्पन्न सामूहिक प्रभावमें केन्द्रित होता है। यही कलाके आदर्शी-करणकी प्रक्रिया है। (वह इस प्रक्रियाका प्रयोग करनेके लिए स्वतन्त्र है) वह सामूहिक प्रभावको कम करनेवाली घटनाओं और ब्यौरोंको छोड़ सकता है तथा उसे बढ़ाने वाली घटनाओं या चित्रोंको अधिक प्रधानता दे सकता है।

सत्यका एक दूसरा ही रूप हम रचनात्मक-साहित्यमें—चाहे वह कथा-साहित्य हो चाहे काव्य—देखना चाहते हैं। यह 'कला'का सत्य होता है। कवि और कथाकार जिन कथानकों और पात्रोंकी सृष्टि करते है वे वास्तविक न होकर प्रवृत्ति-विशेषके प्रतिनिधि होते हैं। कवि या कथाकार जिन दृश्योंका चित्रण करता है या जिन पात्रोंका चरित्राङ्कन करता है वे वास्तविक अस्तित्व नहीं रखते। ये उसकी मानसी-सृष्टि होते हैं। इस प्रकार कथा-साहित्य जिस सत्यकी अभिव्यक्ति करता है, वह भावना या धारणाका सत्य है। कहनेका

तात्पर्य यह है कि लेखक-विशेषकी सामान्य अनुभूति जाति या राष्ट्रकी सामान्य अनुभूतिके अनुकूल ठीक उसके सामानान्तर होनी चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—मिडिल मार्च[1] (Middlemarch) न्यूनीटान (Nuneaton) नहीं है और न मैगी टुलिवर (Maggie Tulliver) मेरी आन इवान्स (Mary Ann Evans) (जार्ज इलियट) हैं; लेकिन यदि हमें यह धारणा बनानी हो कि मिडलैंड टाउनमें किस प्रकारकी जिन्दगी व्यतीतकी जाती थी? या जार्ज इलियट किस प्रकारकी लड़की थी? तो उन उपन्यासोंसे जिनमें इनका चित्रण किया गया है अधिक प्रामाणिक आधार और क्या हो सकता है? ये लेखक विशेषकी सामान्य अनुभूति (generalized experience)के उदाहरण हैं। इनमें भावनाके सत्यकी अभिव्यक्ति हुई है। क्योंकि इनमें कोई भी जार्ज इलियट-के वर्णनों और चरित्रों तथा जिन वास्तविक घटनाओंके आधारपर वे निर्मित हुए हैं उनमें एक समानान्तरता लक्ष्य कर सकता है। इससे भी अधिक शाश्वत और उच्चस्तरके सारभूत सत्यकी अभिव्यक्ति उन रचनाओंमें लक्ष्यकी जा सकती है जो किसी जाति विशेषकी सांस्कृतिक परम्परामें सन्निविष्ट व्यक्तिगत और विश्वजनीन सत्यके समन्वयपर आधृत हैं। यदि हम प्रबल प्रेमावेग-जनित आसक्तिके चरम रूपकी कल्पना करना चाहें तो हमें रोमियो और जूलियटकी प्रेम-कहानीको आधार बनाना पड़ेगा, अपने पड़ोसके किसी व्यक्तिके प्रेम या रागात्मक सम्बन्धको नहीं। हमारा नारीकी कर्त्तव्य-भावनाका आदर्श रूप सोफाक्लीज[2] (Sophocles)के ऐंटीगोनी[3]के आचरणपर आधृत है, इसी प्रकार

१. 'मिडिल मार्च' (Middlemarch)—जार्ज इलियट द्वारा रचित एक उपन्यास। इसमें उन्नीसवीं शतीके प्रथमार्द्धके मिडिल मार्च शहरके जीवनका चित्रण किया गया है। यह १८७१-७२ में प्रकाशित हुआ था।—अनु०

२. सोफाक्लीज (Sophocles, ४९६-४०९ ई० पू०), एथेन्सके निकट कोलोनसमें उत्पन्न हुआ था। यह अपने दुःखान्त नाटकोंके लिए प्रसिद्ध है।—अनु०

३. ऐंटीगोनी (*Antigone*)—सोफाक्लीज रचित इसी नामके नाटककी नायिका। इसने राजाज्ञाके विरुद्ध अपने दो भाइयोंमेंसे एकके शवको रात्रिमें दफना दिया था। क्रुद्ध होकर राजाने इसे जिन्दा गाड़ देनेकी आज्ञा दी। इसने आत्महत्याकर ली। राजाके पुत्रने भी, जो इसे बहुत प्यार करता था, इसकी कब्रपर जाकर आत्महत्या-कर ली।—अनु०

हमारी वीरत्वपूर्ण कार्यकी भावनाका आदर्श 'आइडिल्स ऑव दी किंग'[१] के 'आर्थर'की कर्त्तव्यनिष्ठाके आधारपर मूर्त हुआ है। इस प्रकार महान् लेखकोंकी कृतियोंमें जिस भावनामूलक सत्यकी उपलब्धि होती है वह इतिहास या जीवनी या यथार्थकी किसी भी अनुकृतिके सत्यसे उच्चतर कोटिका होता है। इसकी उच्चताका रहस्य यह है कि यह कई युगोंके समन्वित अनुभवके आधारपर मूर्त किया जाता है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण जातिके अनुभवका सारतत्त्व होता है। इसका आधार सार्वभौम होता है और जैसा कि अरस्तूने कहा है—"काव्य इतिहास-की तुलनामें एक व्यापक सत्य तथा एक उच्चतर लक्ष्यकी अभिव्यक्ति करता है। काव्यका विषय विश्वजनीन होता है, इतिहासका व्यक्ति या राष्ट्र-विशेष"। या जैसा कि वर्ड्सवर्थने कहा है 'काव्यका सत्य ज्ञानका प्राणतत्त्व या सूक्ष्मतम तत्त्व होता है'।

यह भावनामूलक सत्य जिसकी उपलब्धि हमें गद्य या पद्य किसी भी प्रकारके रचनात्मक-साहित्यमें होती है, वस्तुतः कवि या कथाकारकी व्यक्तिगत अनुभूति एवं धारणा तथा सामान्य मानवीय भावनाकी समंजसतापर आधृत होता है। और चूँकि महत्त्वपूर्ण विषयोंके संदर्भमें व्यक्त होनेवाली सामान्य मानवीय भावनायें ही सामाजिक नियमों और परम्पराओंके रूपमें मान्य होती हैं और इन्हें ही हम 'नैतिकता'की संज्ञा प्रदान करते हैं, इसलिए निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ और महान् रचनात्मक साहित्य और नैतिकताका सम्बन्ध बाह्य, अस्वाभाविक या आरोपित नहीं है। देश-विशेष या समाज-विशेषके नैतिक आदर्श अन्य देश या समाजके नैतिक आदर्शोंसे किन्हीं अर्थोंमें भिन्न हो सकते हैं। पाश्चात्य देशोंकी नैतिकता पूर्वीय देशोंकी नैतिकतासे निश्चित रूपसे भिन्न है किन्तु इन भेदोंके होते हुए भी कुछ ऐसी भी नैतिक मान्यतायें हैं जो कमसे कम सिद्धान्त रूपमें विश्व भरके सभ्य समाजमें स्वीकृत हैं। एक ऐसा उपन्यास या काव्य जो यह दिखाता है कि एक अनैतिक व्यक्ति नैतिक और आचरणशील व्यक्तिकी तुलनामें अधिक सुखी होता है भावनामूलक सत्य, जो रचनात्मक साहित्यका वास्तविक सत्य है,

---

१. आइडिल्स ऑव दि किंग (*Idylls of the King*) टेनिसनकी एक दूसरेसे क्रमबद्ध रचनाओंकी कविता-माला, १८४२ में प्रकाशित।—अनु०

की अभिव्यक्ति नहीं करता क्योंकि लेखकने अपनी रचनामें जिस अनुभूतिकी अभिव्यक्ति की है वह सम्पूर्ण जातिकी सामान्य अनुभूति, जिसकी व्यंजना नैतिकताके आदर्शोंमें होती है, के अनुकूल नहीं है। इसलिए ऐसी कृतियाँ इस भावना-मूलक सत्यके आधारपर उपेक्षित होती हैं। चूँकि नैतिक आदर्श किसी भी समाजकी समूची अनुभूतिके औसतके आधारपर निर्मित होते हैं, इसलिए ऐसी कृतियाँ जिनका वर्ण्य-विषय नैतिक आदर्शोंके प्रतिकूल होता है इस भावना-मूलक सत्यकी कसौटीपर खरी न उतरनेके कारण उपहासास्पद सिद्ध होती हैं।

दूसरा सिद्धान्त सन्तुलनका है, सन्तुलनसे तात्पर्य किसी भी कृतिके बाहरी गुणों और उसके विशेष आन्तरिक उद्देश्यकी समंजसतासे है। इस सिद्धान्तको जब हम सामान्यतः सभी कलाओंपर लागू करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि कलाकार वास्तविकताके उसी रूपको अपनाए जिसे अपनी विशिष्ट कलाके माध्यमसे वह उचित रीतिसे व्यक्त कर सकता है। साथ ही उसे यह भी चाहिए कि वास्तविकताके इन रूपोंको व्यक्त करते समय वह अपनेको इन उचित कला-साधनोंतक ही सीमित रखे। इस बाह्य दृष्टिकोणसे विचार करनेपर सन्तुलन (symmetry)का आधार रचनाका रूपात्मक औचित्य होता है या यों कहिए कि वर्ण्यवस्तुके उचित चयन और उचित निबन्धनमें देखा जा सकता है। साहित्य-के सन्दर्भमें इस सिद्धान्तका दुहरा महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि यह साहित्यके सभी रूपोंपर लागू होता है, दूसरी बात यह है कि यह रचनात्मक साहित्य, जिसमें प्रश्न कलात्मक अभिव्यक्तिका होता है, के सन्दर्भमें एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त होता है। पहली स्थितिमें सन्तुलनका तात्पर्य यह होता है कि साहित्य-रचनाके बाह्य उपकरण अर्थात् रचनाका आकार और रूप (चाहे रचना गद्यात्मक हो या पद्यात्मक, वर्णनात्मक हो या संवादात्मक या वर्णन और संवाद दोनोंसे युक्त हो) वर्ण्य-वस्तुके सर्वथा अनुरूप हों। सन्तुलनका यह अपेक्षाकृत सरल और प्रत्यक्ष रूप है। यदि हम दो आत्यन्तिक उदाहरण लें तो बात स्पष्ट हो जायगी। एक इतिहासकार अनेक प्रकारके तथ्योंको उपस्थित करना चाहता है। स्वाभाविक है कि वह वर्णनात्मक शैली स्वीकार करे। वह सुगम गद्यका प्रयोग करना चाहेगा जिसमें छन्द आदिका कोई बन्धन न होगा। वह आकार सम्बन्धी कोई बन्धन भी स्वीकार नहीं करना चाहेगा। इसके विपरीत एक कवि

जब किसी विचार या भावनाको मूर्त करता है तो स्वभावतः वह भावनाके अनुकूल कोई 'सॉनेट' जैसा छोटा सा काव्य रूप स्वीकार करेगा, जिसमें वह चौदह पदोंमें कलात्मक ढंगसे अपनी भावनाको इस प्रकार प्रस्तुत करेगा कि वह एक सुगुम्फित रत्नकी भाँति चमकती रहे। इस अर्थमें सन्तुलनका सिद्धान्त सभी प्रकारके साहित्य-रूपोंपर लागू होता है। एक इतिहास या विज्ञान सम्बन्धी छोटी-सी पुस्तिकामें भी विषय-क्रमका ध्यान रखा जाता है। वर्ण्य-विषयको सांगोपांग उपस्थित किया जाता है। तथ्योंको उनके महत्त्वके अनुसार क्रमबद्ध किया जाता है। जो आवश्यक तथ्य होते हैं, उन्हें उभारकर सम्मुख रखा जाता है और जो मात्र प्रासंगिक होते हैं, उन्हें कम महत्त्व देकर पीछे डाल दिया जाता है।

दूसरे अर्थमें सन्तुलनका सिद्धान्त केवल रचनात्मक साहित्यपर लागू होता है क्योंकि रचनात्मक साहित्य ही वास्तविकताको व्यक्त करते समय कलात्मक पद्धतिका अनुसरण करता है। इस स्थितिमें सन्तुलनके सिद्धान्तकी पूर्ति केवल इतनेसे ही नहीं होती कि निर्मेय-कृति जिस काव्य-रूप या रचना-पद्धतिके अनुसार रची जा रही है उसकी बाह्य आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर निर्मित हो बल्कि कलाकारको उस मूर्ताधारकी सीमाओंका भी ध्यान रखना पड़ता है जिसके माध्यमसे वह अपनी रचनाको रूपायित करता है। काव्य-कलाके क्षेत्रमें शब्द ही माध्यम या मूर्ताधार है। यह कालकी मात्राको उसी क्रमसे व्यक्त कर सकता है जिस क्रमसे वह हमारे नेत्रों या कानोंके समक्ष प्रस्तुत होती है। इस प्रकार यह प्रकट है कि सन्तुलनके सिद्धान्तकी पूर्तिके लिए शब्दको माध्यम रूपमें स्वीकार करनेवाले कलाकारके लिए आवश्यक है कि वह वास्तविकताके निश्चित रूपोंको ही अभिव्यक्तिके लिए चुने। सभी प्रकारकी वास्तविकताओंको अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा न करे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि किसी काव्य-रचनाको सन्तुलनके सिद्धान्तके अनुकूल बनाना है तो पहली शर्त यह है कि उसे सामान्य वास्तविकताओंमेंसे (चाहे वे वस्तुगत हों या व्यक्तिगत) केवल उसीतक अपनेको सीमित रखना होगा जिसपर वह रचना मूलतः आधृत है और दूसरी शर्त यह है कि संवाद, विवरण, वर्णन, और स्वगत-भाषण आदि अनेक अभि-

व्यक्ति-पद्धतियोंमेंसे जिस पद्धतिका सम्बन्ध व्यक्त होनेवाले विविध विषयों—घटनाओं, मनःस्थितियों, वस्तु-चित्रों आदि—मेंसे जिस विषयसे सर्वाधिक घनिष्ठ हो उस विषयके लिए उसी पद्धतिको ग्रहण करके विषयोंके केवल उसी रूपको मूर्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए जिसे शब्द-प्रतीकोंके माध्यमसे कथनके रूपमें नहीं चित्रणके रूपमें इस प्रकार बिम्बित किया जाय कि वह पाठककी कल्पनाको प्रभावित कर सके। अरस्तूने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पोइटिक्स' में शब्द-शिल्पी कलाकार द्वारा प्रयुक्त शब्द-प्रतीकोंके माध्यमको सीमित और नियन्त्रित करनेवाले नियमोंकी एक रूप-रेखा प्रस्तुत की है और लेसिंगने दृश्य और श्रव्य कलाओंपर विचार करते हुए इस रूप-रेखाको विस्तार प्रदान किया है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है अरस्तूने इस सिद्धान्तको रचनात्मक साहित्यकी उत्कृष्टताका आधार मान लिया है और दुःखान्त नाटकोंको रचनात्मक-साहित्यका सर्वाधिक विकसित रूप स्वीकार करके उसने कथा-तत्त्वकी प्रमुखतापर अधिक बल दिया है क्योंकि मंचीय-नाटकों तथा उपन्यासोंमें कथा-संघटनके क्षेत्रमें ही शब्द-शिल्पी कलाकारके लिए कला-निर्माण सम्बन्धी गुण-दोषोंके समावेशकी सर्वाधिक गुंजाइश है। इसीलिए उसने सन्तुलनके सिद्धान्तको दृष्टिमें रखकर कहा है कि कथा-तत्त्व ही दुःखान्त नाटको-का प्राण है। इस दृष्टिसे पात्रोंका स्थान दूसरा है। अरस्तूके अनुसार कथा-संघटनके अन्तर्गत उचित वर्ण्यविषयका चयन तथा केन्द्रीय घटना-तत्त्वको प्रमु-खता और प्रासंगिक घटनाओंको यथोचित गौणता प्रदान करते हुए, उसका प्रभावपूर्ण ढंगसे विन्यास दोनों ही बातें आती हैं। अरस्तू और लेसिंग दोनोंके सन्तुलनके सिद्धान्तकी व्याख्याओंमें थोड़ा अन्तर है। अरस्तूने सम्पूर्ण कृतिके सन्तुलित संघटनपर विचार किया है, जब कि लेसिंगने कृतिके विभिन्न अंगों—कथानक, वस्तु, क्रिया-व्यापार, दृश्य, व्यक्ति-चित्रण आदि—के संघटनमें सन्तु-लनके सिद्धान्तके प्रयोगपर विचार किया है। लेसिंगके विवेचनके आधारपर निर्णीत कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षोंका उल्लेख पाँचवें अध्यायमें हो चुका है। इसलिए यहाँ उनके पुनः उल्लेखकी आवश्यकता नहीं है। मेरिडिथ (Meredith) के इस वाक्यमें उन सभीका सन्निवेश हो गया है—'लेखन-कलाका उद्देश्य मनो-बिम्ब उत्पन्न करना है क्योंकि हमारा उड़ता हुआ मन विस्तृत विवरण नहीं ग्रहण कर सकता। शेक्सपियर और दान्तेके काव्य-चित्र इसी कोटिके हैं'। इस प्रसंगमें

सर वाल्टर बेसेण्ट[1] ने उपन्यास-कलापर विचार करते हुए पात्र-रचनाके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किया है, उसका उल्लेख भी उपयोगी सिद्ध होगा। यह व्यावहारिक दृष्टिसे लिखा गया है और मुख्यतः गद्यात्मक कथाके सम्बन्धमें कहा गया है। वह लिखता है—"जहाँतक किसी पात्रके चारित्रिक वैशिष्ट्यको व्यक्त करनेकी बात है, इसके कई तरीके हो सकते हैं। पहला और सबसे आसान तरीका यह है कि पात्रकी किसी निजी विशेषता जैसे बात करनेका कोई विशेष ढंग या चाल-ढालकी कोई विशिष्ट पद्धतिको उभारा जाय। यह सबसे खराब या आसान (जो भी कहिए) तरीका है। दूसरा आसान तरीका यह है कि पात्रके चरित्रका पूरे विस्तारसे वर्णन कर दिया जाय। यह भी अच्छा तरीका नहीं है क्योंकि यह बहुत ही श्रम-साध्य है। यदि आप किसी अच्छे लेखककी कृति पढ़ें तो पायेंगे कि पहले वह अपने पात्रकी विशेषताओंको कुछ थोड़ेसे शब्दोंमें ही स्पष्ट कर देता है और फिर उसके चरित्रका विस्तृत प्रकाशन घटनाओं और संवादों के माध्यमसे करता है। संवादोंके बीच पात्र-विशेषकी मुद्रा, हास्य, रुदन, या देखनेके ढंगको बार-बार उभारकर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना भी पात्र-चित्रणकी अकलात्मक पद्धति है। सामान्यतः परिस्थितियाँ इस प्रकारके व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करतीं। कुछ बहुत ही प्रसिद्ध दृश्योंमें, जिन्हें मैं उदाहृत कर सकता हूँ, वक्ताओंकी प्रवृत्ति, मुद्रा, या दृष्टिको स्पष्ट करनेके लिए एक भी शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है फिर भी उनका चरित्र बिल्कुल स्पष्ट होकर सामने आता है गोया कि इन सबका विस्तृत उल्लेख किया ही गया हो। लेखन कलाकी यह सबसे बड़ी विशेषता है। इस विशेषताके कारण पाठक बिना किसी प्रकारके निर्देशके ही बोलनेवाले पात्रोंकी परिवर्तित होती हुई भंगिमाओंको देख सकता है और उनकी वाणीके विविध स्वरोंको सुन सकता है। यह ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति थियेटर हालमें अपनी आँखें बन्द कर ले फिर भी पात्रोंको मंचपर अभिनय करता हुआ देखता रहे और उनकी बोलियाँ सुनता रहे। यह वही लेखक कर सकता है जो प्रारम्भसे ही अपने पात्रोंके वैशिष्ट्यको स्पष्ट करता

१. सर वाल्टर बेसेण्ट (Sir Walter Besant, १८३६-१९०१) पोर्ट्स-माउथमें पैदा हुआ था। किंग्स कॉलेज लण्डन और क्राइस्टचर्च कालेज केम्ब्रिजमें शिक्षा पाई थी। इसे सबसे अधिक सफलता उपन्यास-रचनाके क्षेत्रमें प्राप्त हुई।—अनु०

चलता है, सबसे पहले उनकी रूपरेखा पाठकके सामने प्रत्यक्ष कर देता है और फिर हर नवीन पंक्तिके साथ क्रमशः उनकी आकृति उभारता जाता है और अन्ततः उनका पूरा व्यक्तित्व स्पष्ट रूपाकृतियोंमें सजीव कर देता है।"

इसलिए ऐसी ही कृतियाँ, जिनमें सन्तुलनका यह गुण होता है अर्थात् यों कहिए कि जिनमें वर्ण्य-विषय सामूहिक और विस्तृत दोनों ही रूपोंमें इस प्रकार न्यस्त और व्यवस्थित रहता है कि पाठकके उड़ते हुए मनको आकर्षित कर लेता है, कल्पनाको प्रभावित कर सकती हैं। इस प्रकार सन्तुलनकी कसौटी अप्रत्यक्ष रूपसे एक ऐसा साधन है, जिससे किसी भी कृतिमें इस प्रधान कलात्मक वैशिष्ट्यकी उपस्थितिकी परखकी जा सकती है।

तीसरा आदर्शीकरणका सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त केवल रचनात्मक-साहित्यपर ही लागू होता है या यों कहिए कि ऐसी साहित्यिक कृतियोंपर लागू होता है जो कला-कृतियाँ भी है और जिनमें कलाकृतिका वह विशेष गुण निश्चित रूपसे विद्यमान है, जिसे हम व्यक्तिगत दृष्टिकोणके आधारपर 'आनन्ददायिनी क्षमता' और वस्तुगत दृष्टिकोणके आधारपर 'सौन्दर्य' कहते हैं। रचनात्मक-साहित्यके सम्बन्धमें इस सिद्धान्तकी पूर्ति केवक इतनेसे ही नहीं होती कि लेखक वास्तविकताके मनोगत रूपकी अभिव्यक्ति कर दे बल्कि इस सिद्धान्तको चरितार्थ करनेके लिए आवश्यक है कि वास्तविकताके मनोगत रूपके उसी पक्षको उपस्थित किया जाय जो पाठककी सौन्दर्य-चेतनाको सुखकर प्रतीत हो। वास्तविकताका वह मानसिक रूप जो पाठककी सौन्दर्य-चेतनाको उल्लसित नहीं करता उसे न व्यक्त करना ही उचित है। विक्टरकाजिन लिखता है कि 'कला' जो भावना हममें जाग्रत करना चाहती है, उसका सौन्दर्य-भावनासे अनुशासित होना आवश्यक है। यदि कला केवल दया और भयकी भावना जाग्रत करती है और वह वस्तु-जगत्में संभावित दया और भयकी भावनाकी सीमाका अतिक्रमण कर जाती है तो उसकी रमणीयता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें वह उचित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाती और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती है जो इसकी मर्यादा से परे और अशोभन है।" रचनात्मक साहित्यके सम्बन्धमें क्या कलामात्रके सम्बन्धमें इस आदर्शीकरणके सिद्धान्तको लागू करनेपर ही हम 'यथार्थवादिता' और 'यथार्थवादी' जैसे शब्दोंको एक निश्चित मर्यादा प्रदान कर सकते

है कोई भी रचनात्मक साहित्य कृति इस अर्थमें यथार्थवादी नहीं कही जा सकती कि लेखकने यथार्थके मनोगत रूपको अभिव्यक्ति न देकर मात्र यथातथ्य रूपको व्यक्त किया है। क्योंकि ऐसा करने पर लेखककी कृति रचनात्मक हो ही नहीं सकती। यदि हम इस शब्दका प्रयोग निन्दाके अर्थमें करें तो ऐसी कृतियोंके लिए ही कर सकते हैं, जिनमें लेखकने वर्ण्यवस्तुका चयन या शोधन किया ही नहीं है या यों कहिए कि जिनका आदर्शीकरण हुआ ही नहीं है और इसीलिए जिनमें पाठकको आनन्द-प्रदान करनेकी क्षमता ही नहीं है। चूँकि यह आनन्द प्रदान करनेका गुण जितना रचनाके स्वरूपपर निर्भर करता है, उतना ही पाठककी व्यक्तिगत रुचि और मनोवृत्तिपर भी निर्भर करता है, इसलिए किसी कृतिके सम्बन्धमें यह उचित आरोप लगानेके पहले कि उसमें आनन्द-प्रदान करनेकी क्षमता नहीं है, हमें यह मानकर चलना होगा कि उसका पाठक एक सीमातक सुरुचि-सम्पन्न और कलात्मक बोधसे युक्त व्यक्ति है। चूँकि सामान्यतः पाठकमें यह सुरुचि-सम्पन्नता या नैतिकताकी भावना ही अधिक विकसित होती है इसलिए अपने बुरे अर्थमें यह शब्द अनैतिकता या सामान्य मानवीय भावनाकी प्रतिकूलताका वाचक हो गया है। लेकिन इस अर्थ में इस शब्दका प्रयोग करते हुए यह न भूल जाना चाहिए कि इसका मौलिक और व्यापक अर्थ दूसरा ही है। अपने व्यापक अर्थमें यह शब्द ऐसे साहित्य या ऐसी कला-कृतियोंके लिए प्रयुक्त होता है, जिनमें लेखक या कलाकारने किसी विषय या उसके किसी पहलूको व्यक्त करते हुए उस सौन्दर्य-तत्वकी अवहेलनाकी होती है, जिसके समावेशके प्रभावसे उस साहित्य या कलाकृतिमें आनन्द-प्रदान करनेकी क्षमता आती है।

आदर्शीकरणके सिद्धान्तको लागू करनेसे जिस अन्य प्रमुख सिद्धान्तका आविर्भाव हुआ है, वह है काव्य-न्याय (Poetic Justice)का सिद्धान्त। इस सिद्धान्तके अनुसार किसी भी रचनात्मक-साहित्यकी कथाका अन्त—दुःखान्त नाटकोंको छोड़कर—सुखद होना चाहिए। इस प्रकारके अन्तकी कल्पनासे मनुष्यकी उस परम्परागत आशावादिताकी अभिव्यक्ति होती है, जो इस विश्वासपर बीज-रूपसे मानव-मनमें प्रतिष्ठित है कि यह समग्र विश्व एक सर्वशक्तिमान् और परम बुद्धिमान् सत्तासे नियन्त्रित और शासित है। रचनात्मक-साहित्यपर लागू

होने वाले आदर्शीकरणके सिद्धान्तके सम्बन्धमें स्पष्ट मत प्रकट करते हुए बेकनने[1] उस दार्शनिक आधारकी ओर इंगित किया है, जो इस सिद्धान्तके मूलमें विद्यमान है। इस सिद्धान्तके अनुसार काव्य-कृतियोंमें घटनाओं और कार्य-व्यापारोंका अन्त अधिक न्यायपूर्ण और दैवेच्छाके अनुकूल दिखाया जाता है। इस सम्बन्धमें बेकनका कहना है—"काव्य-कला काल्पनिक इतिहासके अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसकी रचना गद्य और पद्य दोनों प्रकारकी शैलियोंमें हो सकती है। इस काल्पनिक इतिहासकी रचनासे मानव-मनको कुछ सन्तोष प्राप्त होता है, विशेषतः जीवनके उन क्षेत्रोंमें जहाँ प्राकृतिक घटना-चक्र इस प्रकारके सन्तोषका अवसर नहीं देता। वास्तविक जगत् उतना सुन्दर नहीं है जितना आध्यात्मिक जगत्। इसीलिए काव्य-जगत्में मानव-आत्माके अनुकूल ही अधिक महिमामय अधिक औचित्यपूर्ण और अधिक वैविध्यपूर्ण घटना-चक्रकी कल्पनाकी जाती है। ऐसी घटनायें जो वास्तविक जगत्में घटित नहीं होतीं। चूँकि वास्तविक इतिहासकी घटनायें इतनी महिमामय और गौरवपूर्ण नहीं होतीं कि मानव-मनको सन्तुष्ट कर सकें इसलिए काव्य-कलाके क्षेत्रमें ऐसी घटनाओं और कार्योंकी कल्पना कर ली जाती है जो अधिक वीरत्वपूर्ण और महिमामय हों। चूँकि वास्तविक इतिहास व्यक्तियों के गुण-दोषों को दृष्टि में रखकर उनके अनुसार सफलता-असफलताका निर्णय नहीं करता, इसलिए काव्य-कला अधिक न्यायोचित परिणामोंकी कल्पना कर लेती है। चूँकि इतिहास प्रायः सामान्य और परस्पर अपरिवर्त्तनीय घटनाओंका प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए काव्य-कला विशिष्ट, असम्भावित और विकल्पयुक्त घटनाओंकी कल्पना कर लेती है। इससे यह प्रकट होता है कि काव्य-कला हृदयकी महानता, नैतिकता और उल्लासमयताको प्रश्रय देती है। इसीलिए काव्य-कलाने सदैव दैवकी प्रेरणा और उसके प्रभावको भी स्वीकार करना उचित समझा क्योंकि ईश्वरीय प्रेरणा सांसारिक घटनाओंको मनके अनुकूल प्रेरित करके उसको उन्नत करती है, जबकि बौद्धिकता वास्तविक घटनाओंके सम्मुख मानवेच्छाको झुका देती है। मानव-

१. बेकन (Bacon, १५६१-१६२८)-राजनीतिज्ञ, निबन्धकार और दार्शनिक। लंदनमें पैदा हुए थे। ट्रिनिटी कालेज, केम्ब्रिजमें शिक्षा पाई थी। बहुत दिनों तक फ्रांसमें राजदूत भी रहे थे।—अनु०

इसलिए मिथ्या है कि उसे पाठकोंके सामने आदर्श रूपमें उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार पूरे जीवनका चित्र ही विकृत हो जाता है। रचनात्मक साहित्यमें जीवनके सत्यको उसी रूपमें चित्रित नहीं किया जा सकता जिस रूपमें इतिहास, जीवनी या किसी वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थमें किया जाता है। यदि इस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है तो कृति रचनात्मक नहीं हो सकती और वह कलाकृतिके विशिष्ट सौन्दर्यको खो देती है। सत्यकी अभिव्यक्तिका सिद्धान्त आदर्शीकरणकी प्रक्रियाको दो रूपोंमें नियंत्रित करता है। यह आवश्यक है कि आदर्शीकरणके सिद्धान्तका पालन पूरी रचनामें आद्योपान्त होना चाहिए नहीं तो रचनाके माध्यमसे विकृत जीवन और वास्तविकताका मिथ्या रूप व्यक्त होगा और यह भी आवश्यक है कि आदर्शीकरणकी प्रक्रिया वस्तुओं और व्यक्तियोंके सम्बन्धमें उस विस्तृत और यथार्थ ज्ञानसे प्रेरित होनी चाहिए जिसे दर्शनके सत्यके रूपमें अभिहित किया जाता है। यदि कलाकारकी मौलिक उद्भावनाको प्रेरित करनेमें विस्तृत और यथार्थ ज्ञानका आधार न लिया जायगा तो जिन पात्रों और दृश्योंका अंकन वह करेगा वे उस वास्तविकताके अनुकूल न होंगे जिसकी अभिव्यक्ति या जिसकी व्याख्या कलाकारकी मौलिक उद्भावना करना चाहेगी। सत्यसे अनियंत्रित आदर्शीकरणका परिणाम विशेषतः गद्यात्मक कथाओंमें देखा जा सकता है। जार्ज मेरिडिथ[1] (George Meredith)के शब्दोंमें 'सत्यताकी भावनासे अनियंत्रित होनेसे उपन्यास-कला मूर्खोंकी विचरण भूमि हो गई है। इस प्रकार पूरी दुनियाको मूर्खतामयकर देनेका एक ढंग निकल आया है।' इस प्रकारके उपन्यासोंमें जो पात्रोंका आदर्श रूप उपस्थित किया जाता है वह एक प्रकारकी 'मिथ्याप्रशंसा' है जो 'मिथ्या-प्रतीतियोंमें सबसे अधिक खतरनाक है'। जब उपन्यासकार सत्यके आग्रहसे आदर्शीकरणकी प्रवृत्तिको नियंत्रितकर लेता है, जब वह अपनी मौलिक उद्भावनाओंको उसी रूपमें ढाल लेता है जिस रूपमें दर्शन जीवनकी वास्तविकताको व्यक्त करनेकी शिक्षा

---

१. जार्ज मेरिडिथ (१८२८-१९०९)ने अपने उपन्यासोंमें जीवनकी गम्भीर समस्याओंको व्यक्त किया है। उसकी सबसे सफल कृति 'दी इगोइस्ट' (१८७० ई०) है। इसमें नारी स्वातंत्र्यकी भावनाको सहृदयतापूर्वक उभारा गया है।—अनु०

देता है, तब उसकी कला पूर्णतः परिपक्व हो जाती है। तब वह रचनात्मक साहित्यके उस प्रमुख रूपकी रचनामें सत्यसे मर्यादित आदर्शीकरणका निर्वाहक ले जाता है जिसमें उसे कुशलता प्राप्त होती है।

वह कहता है कि "इस परिपक्व स्थितिमें ही हम सच्चे ऐतिहासिक और ईमानदार रूपान्तरकार हो सकते हैं। यह वह स्थिति है जब कलाकारके मनसे गुलाबकी लालिमाका आकर्षण और भूरे रंगकी गन्दगीका विकर्षण दोनों मिट गए होते हैं। जहाँ कहीं ऐन्द्रजालिक मिथ्यात्वकी प्रधानता होती है वहाँ उपर्युक्त दोनों ही प्रवृत्तियाँ, जो मूर्खतापूर्ण और अवांछित स्पर्धा करती हुई निरन्तर विमूढ़तामें वृद्धि करती रहती हैं, विद्यमान रहती हैं। दर्शनका इन दोनोंसे बैर है। दार्शनिक ज्ञानकी प्रवृत्तिके उभड़नेपर ये कलाकारके स्वाभाविक चिन्तनको विमूढ़ताग्रस्त नहीं बना पातीं और न अभिव्यक्तिके लिए निरन्तर संघर्ष करती हुई उसकी आत्माका ही दम घोंट पाती हैं। दर्शन हमें यह शिक्षा देता है कि न तो हम गुलाब पुष्पकी भाँति सुषमा मंडित हैं, न भूरे रंगकी गन्दगीकी भाँति घृणास्पद। हमारा जीवन इसलिए नहीं है कि हम बराबर इन दोनों अवांछित वृत्तियोंको क्रमशः परिवर्तित करते हुए स्वीकार करते रहें वरन् वह अधिक स्वस्थ, ग्राह्य, फलप्रद और उल्लासपूर्ण है[१]। लेकिन साहित्यकी उत्कृष्टतामें वृद्धि करने वाले गुणोंके ज्ञान और अपनी उपस्थितिसे साहित्य-कृतिकी रचना-शैलीको प्रभावित और नियंत्रित करने वाले सिद्धान्तोंकी जानकारी मात्रसे हममें वह योग्यता नहीं आती जिससे हम साहित्यका वास्तविक मूल्याङ्कन कर सकें तथा उसके गुण-दोषोंका उचित विवेचन कर सकें। यह सब करनेके लिए हमें और जाननेकी आवश्यकता है। हमें यह भी जानना चाहिए कि पठित पुस्तकका मूल्याङ्कन करनेके लिए इन सिद्धान्तोंका प्रयोग किस प्रकार किया जाय? वर्ण्य-विषयकी उत्कृष्टताकी कसौटी सत्य है, शैली-तत्त्वकी उत्कृष्टताकी कसौटी सन्तुलन या समंजसता है, उचित रीतिसे किए गए आदर्शीकरणकी कसौटी सौन्दर्य है। लेकिन प्रश्न यह है कि इन सभी कसौटियोंको किसी रचनाके सम्बन्धमें किस प्रकार लागू किया जाय? इसका केवल एक संभावित उत्तर है और वह कर्ट

---

१. डायना ऑव द्रि क्रासवेज (*Diana of the Crossways*, १८८५ ई०) यह जार्ज मेरिडिथका प्रसिद्ध उपन्यास है।

गार दिया जा चुका है। इन कसौटियों और इनके पोषक सिद्धान्तोंको तुलनात्मक पद्धतिके आधारपर ही लागू किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि हम किसी रचनाके सम्बन्धमें केवल इतना ही नहीं जानते कि हमें सत्यका अनुसंधान करना है वरन् यह भी जानते हैं कि यदि कृति रचनात्मक नहीं है तो हमें तर्क-प्रसूत सत्यका अनुसंधान करना है। यह सब कुछ जाननेपर भी हमें यह जाननेकी आवश्यकता होती है कि हम आलोच्य कृतिकी तुलना उसी परम्पराकी किसी मान्य, प्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट कृतिसे करें। साहित्यकी विविध शाखाओंमें जो सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ रची गई हैं, उनके अध्ययनसे क्रमशः हमारा मन उनमेंसे प्रत्येकमें निहित विविध और विशिष्ट गुणोंसे इतना परिचित हो जाता है कि हम स्वतः किसी भी कृतिको देखकर उसमें उन गुणोंकी उपस्थितिका स्वागत और अनुपस्थितिकी शिकायत करने लगते हैं। एडिसन कहता है कि साहित्यिक अभिरुचि एक ऐसी शक्ति है जो किसी भी लेखकके रचना-सौष्ठवको सुगमतासे लक्ष्यकर लेती है और त्रुटियोंको अरुचिपूर्वक निर्दिष्टकर देती है। यदि कोई व्यक्ति जानना चाहता है कि उसमें यह शक्ति है या नहीं तो उसे प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका, जो काल और देशकी कसौटीपर खरे उतर चुके हैं, अनुशीलन करना चाहिए[1]। आर्नल्ड भी यही सम्मति देता है। वह कहता है कि यदि हम चाहते हैं कि उच्चतमकोटिके काव्यका विशिष्ट स्वर पहचान सकें तो हमें अपने मनमें काव्यके उस सौन्दर्य और संगीतको ग्रहण करनेकी चेष्टा करनी चाहिए जो होमर, दान्ते, शेक्सपियर और मिल्टन जैसे महान् लेखकोंकी कृतियोंमें विद्यमान है। जिनकी रचनायें एकान्तनिष्ठा-जनित पूर्ण इमानदारीसे लिखी गई हैं। इन महान् लेखकों-की 'पंक्तियों और उक्तियोंको अपने मनमें रखकर अन्य काव्यकृतियोंको परखते समय इन्हें कसौटीके रूपमें प्रयुक्त करना चाहिए'। वह आगे फिर कहता है कि इन कवियोंकी कुछ थोड़ी सी उक्तियाँ, यदि हममें योग्यता है और हम उनका ठीकसे उपयोगकर सकते हैं, हमारे काव्य-विषयक निर्णयको स्पष्ट और प्रौढ बनानेके लिए पर्याप्त हैं। वे हमें वे भ्रान्त मूल्याङ्कनसे बचा सकती हैं और यथार्थ और उचित निर्णयके लिए प्रेरितकर सकती हैं। कलाकी भाँति साहित्यके क्षेत्रमें भी महान् लेखकोंका अध्ययन करनेसे ही सुरुचिका निर्माण होता है। महान्

१. स्पेक्टेटर, नं० ४०९

लेखकोंकी कृतियोंके अध्ययनको कसौटी बनाकर या जैसा कि श्री डाउडेन (Mr. Dowden) महोदयने अधिक उचित कहा है 'ट्यूनिंग फॉर्क'के रूपमें प्रयुक्त करके हम किसी भी नवीन रचनाके सामान्य स्वरूपके सम्बन्धमें निर्णय दे सकते हैं।[1] लेकिन यदि हम चाहते हैं कि हमारा मूल्याङ्कन अधिक सूक्ष्म एवं निर्णायक हो तो हमें अपने निर्णयको उचित तुलनाके आधारपर या तुलनात्मक परम्पराके आधारपर प्रतिष्ठित करना होगा। साहित्यकी प्रत्येक शाखामें ऐसे कथन या दृश्यचित्रण हैं, जो सर्व-सम्मतिसे अत्यन्त श्रेष्ठ स्वीकार किए गए हैं। साथ ही मान्य लेखकोंकी कृतियोंमें कुछ ऐसे कथन हैं जिनको अलग-अलग हर पाठक लक्ष्य करता है और स्मरण रखता है क्योंकि वे एक विशेष सीमा तक उसके मनको प्रभावित करते हैं। अगर हम किसी नवीन रचनाका ठीक-ठीक मूल्याङ्कन करना चाहते हैं तो हमें एक या कुछ कथन और दृश्य-चित्रण चुन लेने चाहिए तथा मान्य लेखकोंके सर्वस्वीकृत श्रेष्ठ कथनों और दृश्यचित्रोंसे उनकी तुलना करनी चाहिए। ऐसा करते समय हमें बहुत सावधानीसे काम लेना चाहिए क्योंकि साहित्यका विषय ऐसा है जिसमें एक ही प्रकारकी भावनाओं और दृश्योंका चित्रण अलग-अलग लेखकों द्वारा किया जा सकता है। इसलिए हमें सतर्क होकर निर्मल बुद्धि और स्वस्थ मनसे तुलना करनी चाहिए। सरल ढंगसे बात कही जाय तो यदि हम जानना चाहते हैं कि 'क'का साहित्यमें क्या स्थान है? तो हमें उसकी रचनाकी तुलना उसी प्रकारकी अ, ब, स की श्रेष्ठ रचनाओंसे करनी चाहिए। इस कथनको पारिभाषिक रूप देनेके लिए हम उपन्यास साहित्यसे दो एक उदाहरण देना चाहेंगे।

एक किसान अपने परिवारके साथ गिरजाघर जा रहा है। पहले-पहल ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृश्य कलात्मक अभिव्यक्तिके लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। लेकिन यदि हम जानना चाहें कि यह दृश्य या इसी प्रकारका कोई अन्य दृश्य किस प्रकार अत्यन्त कलात्मक ढंगसे चित्रित किया जा सकता है तो हमें 'ऐडम बीड'[2] (Adam Bede) के १८वें अध्यायका प्रथमार्द्ध देखना होगा।

---

१. ऐसेज इन क्रिटिसिज्म II (दि स्टडी ऑव पोयट्री)।

२. प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका जार्ज इलियट (१८१९-८०) का प्रसिद्ध उपन्यास जिसमें एक नारीको केन्द्र-बिन्दुमें रखकर सामाजिक समस्यायें उभारी गई हैं।—अनु०

जार्ज इलियट इस प्रकारके साधारण दृश्यको कलात्मक रूप और मार्मिक दृष्टिसे चित्रित करनेमें कितनी कठिनाई होती है यह भलीभाँति जानती थीं क्योंकि इसके पहलेवाले अध्यायमें उन्होंने इस कठिनाईका उल्लेख किया है, फिर भी वे इसे कलात्मक बनानेमें पूर्ण सफल हुई हैं। और हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि जब उन्होंने अपनी हस्तलिखित रचना जार्ज हेनरी लीविस[1] (George Henry Lewis) को पढ़कर सुनाई तो वे बहुत प्रसन्न हुए। (इस घटनाका उल्लेख उसने अपनी डायरीमें किया है।) यहाँ वह सुन्दर पैराग्राफ है जिसे हम कसौटी मान सकते हैं। यदि हम किसी नवीन रचनामें इसी प्रकारके दृश्यका वर्णन पढ़ें और यह जानना चाहें कि नवीन लेखक किस सीमा तक सफल हुआ है? तो हमें दोनों गद्य-खण्डोंको एक दूसरेसे मिलाकर देखना होगा। या फिर भिन्न प्रकारके विषयका उदाहरण लेना होगा। बहुतसे उपन्यासकार जब ऐसी स्थितिमें पहुँचते हैं, जहाँ उनके नायक-नायिका एक दूसरेके प्रति अपने प्रेमका इजहार करना चाहते हैं, तो वे उनकी चेष्टाओं और कथनोंका वर्णन नहीं करते। ये चेष्टायें और कथन जो वास्तविक जीवनमें प्रेमकी गहन भावनासे प्रेरित होनेके कारण व्यक्त होते हैं, उपन्यासोंमें अपने सन्दर्भसे अलग कर देनेपर अर्थहीन प्रतीत होते हैं। ऐसे अवसरोंपर उपन्यासकार हम पाठकोंपर ही स्थितिकी कल्पनाका भार छोड़ देते हैं या हमपर यह प्रकट कर देते हैं कि प्रेमाभिव्यक्तिका यह अवसर ऐसा है कि इसमें जो कुछ घटित हुआ होगा उसका हम लोगोंके लिए कोई महत्त्व नहीं है। वह तो केवल दो प्रेमी युग्मोंके बीचकी चीज है। जो भी हो, मेरिडिथने अपने 'दी आरडियल आफ रिचर्ड फेवरेल' (The Ordeal of Richard Feveral)[2] उपन्यासके 'फरडिनैण्ड और मिराण्डा' नामक अध्यायमें रिचर्ड और लूसीके मिलनके समयका एक-एक शब्द व्यक्त कर दिया है। प्रेमी युग्मका यह मिलन जंगली फूलोंके रमणीय वातावरण

---

१. जार्ज हेनरी लीविस (George Henary Lewis, १८१७-७९) लण्डनमें पैदा हुए थे। जार्ज इलियटके समकालीन लेखक। जार्ज इलियटसे इनकी भेंट १८५१ में हुई थी। इसके बाद दोनोंका साथ जीवनके अन्ततक बना रहा।—अनु०

२ 'दी आरडियल आफ रिचर्ड फेवेरल'—जार्ज मेरिडिथका प्रसिद्ध रोमैण्टिक उपन्यास जिसकी रचना १८५९ ई० में हुई थी।—अनु०

मे दिखाया गया है। लेखकने न केवल दो प्रेमियोंके प्रेमोद्गारका एक-एक शब्द अंकित किया है वरन् पाठकके मनमें प्राकृतिक सौन्दर्यका ऐसा मोहक चित्र सजीव कर दिया है और गहन प्रेमके स्फुटनका ऐसा मार्मिक उद्घाटन किया है कि उस समयकी प्रत्येक चेष्टा आकर्षक प्रतीत होती हैं। और साधारण कथन भी महत्त्वपूर्ण, सुन्दर और अभिनन्दनीय बन गये हैं। मेरिडिथकी कलाके चरम उत्कर्षका वास्तविक अनुभव करनेके लिए हम शेक्सपियरके 'रोमियो और जूलियट' (Romeo and Juliet) के एक ठीक ऐसे ही प्रसंगसे इसकी तुलना करना चाहेंगे। इस तुलनासे इन दो महान् कलाकारोंके शब्द-विन्यास-कौशलकी समानता स्पष्ट हो सकेगी साथ ही दोनोंकी विचार-पद्धति और शैलीमें काव्य-रूपकी विभिन्नता एवं मानसिक तथा सामाजिक स्थिति-भेदके कारण स्वभावतः आगए अन्तरको भी लक्ष्य किया जा सकेगा।

शेक्सपियरके नाटक और मेरिडिथके उपन्यास दोनोंमें ही प्रथम दर्शनसे उत्पन्न प्रेमका चित्रण किया गया है। दोनोंमें ही माता-पिता और स्वजनों द्वारा विरोध प्रदर्शित हुआ है और दोनोंमें ही इस विरोधकी प्रतिक्रियाने प्रेमी-युग्मके प्रेमको और अधिक गहन बना दिया है। दोनोंका ही भाग्यकी विड़म्बनासे बड़ा ही दुःखद अन्त होता है। नाटकमें जूलियटका आचार-व्यवहार एक एलिजाबेथ-कालीन नारीका आचार-व्यवहार है। वह अपनी बात स्पष्ट और प्रत्यक्ष कह लेती है। उपन्यासमें लूसी उन्नीसवीं शतीकी शीलवती नायिकाकी भाँति अपने भावोंको लज्जाके आवरणमें छुपाकर व्यक्त करती है। उसके टूटे-फूटे शब्द उसके अर्द्ध-विचारित अभिप्रायों को संकेतसे ही प्रकट कर पाते हैं। शेक्सपियरकी जूलियट कहती है—

> "ओ, प्रिय रोमियो,
> यदि सचमुच तुम करते मुझे हो प्यार
> तो, खुलकर कह दो।
> और यदि लगा हो ऐसा कि तुमने मुझे पाया है अनायास
> तो फिर भवें कुंचित हो जायेंगी, धारा उल्टी बह जायेगी,
> यदि ऐसा हो तो ना कह दो।
> तब फिर दुखी होगे तुम।

सारे जगतकी मुझे चिन्ता नहीं है कुछ
प्रिय एकदम रँगी हूँ रंगमें तुम्हारे मैं
इसलिए मेरा व्यवहार तुम्हें हलका लग सकता है।
पर, सच मानो तुम
जिन्हें अजनबी बननेकी चतुराई आती है
प्रीति मेरी सच्ची प्रगाढ़तर है उनसे।''

उपर्युक्त स्पष्ट कथनकी तुलनामें उस संवादका सौष्ठव देखिए, जिसमें मेरिडिथ की नायिका लूसी, रिचार्डका हाथ अपने हाथमें लेकर उसके प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम की स्वीकृति प्रकट करती है—

''क्या तुम नहीं जाओगे ?'

'बताओ न ?' उसने विनयके स्वरमें कहा। उसकी मोहक भौंहों में सिकुड़न पड़ गई।

'क्या तुम नहीं जाओगी ?' पूछते हुए रिचार्डने अपना सफेद हाथ अपने धड़कते हुए हृदयके समीप खींच लिया।

'मैं अवश्य जाऊँगी' लूसी ने लड़खड़ाती आवाज में कहा।

'क्या तुम नहीं जाओगे ?'

'ओह, हाँ, हाँ ?'

'मुझे बताओ ? क्या तुम जाना चाहती हो ?'

प्रश्न गूढ़ था। दो एक क्षणों तक लूसीने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर मन ही मन मिथ्या सौगन्ध खाते हुए कहा—'हाँ'।

'क्या सच ? सचमुच तुम जाना चाहती हो ?' रिचार्डने काँपती हुई पलकों से उसकी आँखोंमें देखा।

आविष्ट स्वरमें पुनः किए गए प्रश्नके उत्तरमें लूसीने अत्यन्त क्षीण स्वरमें कहा—'हाँ'।

'क्या तुम सचमुच ऐसा चाहती हो ?' 'क्या तुम हमको छोड़कर जाना चाहती हो ?'

'कहते-कहते उसकी साँसें तेज हो गईं'।

'हाँ मैं अवश्य······।''

'मैं सोचती हूँ तुम्हें एक बार पुनः धन्यवाद दिए बिना हमारा चला जाना हमारे व्यवहारकी रुखाई प्रकट करता।' यह कहकर उसने एक बार फिर अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। गगनमें उड़नेवाली मोहक चिड़ियाने उसके ऊपर अपना सुन्दर संगीत बिखेर दिया। स्वर्गीय गरिमासे उसकी आत्मा भर उठी। उसने उसका हाथ पकड़ लिया। निर्निमेष नयनोंसे उसे निहारता रहा। मुखसे कुछ न बोला। और वह (लूसी) बिदा-बेलाके अनुकूल दो मधुर शब्द कहकर सीढ़ियोंको पार करके ओससे भींगी हुई झाड़ियोंकी छायाके बीचसे प्रकाश-रेखाके बाहर उसकी आँखोंसे दूर हो गई।"

इन उदाहरणोंमेंसे दो गद्यात्मक कथासे लिए गए हैं जो सम्भवतः साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा है लेकिन इनसे यह प्रकट होता है कि किस प्रकार इस तुलनात्मक पद्धति द्वारा साहित्यके अन्य क्षेत्रोंमें सामान्य नियमों और सिद्धान्तों का प्रयोग किया जा सकता है।

परिशिष्ट

काव्यके मूल्याङ्कनकी भारतीय पद्धति

पाश्चात्य समीक्षा काव्यमें मूलतः तीन तत्त्व—वस्तु (मैटर), शैली (मैनर), और आनन्द-दायिनी-शक्ति (कपैसिटी टु प्लीज)—स्वीकार करती है। काव्य-कृतिका मूल्याङ्कन करते समय उपर्युक्त तीनों तत्त्वोंके सौन्दर्यकी खोज की जाती है। 'वस्तु' का सौन्दर्य सत्य (काव्य-सत्य) की अभिव्यक्तिमें और शैली (मैनर) का सौन्दर्य सामंजस्य या सन्तुलनमें देखा जाता है। आनन्द-प्रदान करनेकी शक्ति आदर्शीकरणकी प्रक्रिया या रूपके भाव-ग्रहणकी प्रक्रिया—से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि यदि काव्य-कृतिमें सत्य—सुन्दर भावों और विचारों—का सन्निवेश हो, उसकी शैली सामंजस्यमयी हो और उसका प्रभाव आनन्ददायक हो तो पाश्चात्य समीक्षक उसे उत्तम या श्रेष्ठ कृतिके रूपमें स्वीकार करेगा। मूल्याङ्कनकी भारतीय पद्धति इससे बहुत भिन्न नहीं है। भारतीय समीक्षक काव्यकी आत्माका अन्वेषण करनेके प्रयत्नमें जिन स्थितियोंसे गुजरा है और उसने जो निर्णय लिए हैं वे उपर्युक्त मान्यताओंके समर्थक हैं। भारतीय दृष्टिसे काव्यकी आत्मा 'रस' है। यह 'रस-तत्त्व' आनन्ददायिनी शक्तिका ही नाम है। 'अलंकार' 'गुण', 'रीति', 'वक्रोक्ति' आदिका सन्निवेश शैलीके अन्तर्गत हो जाता है। शैलीके सौन्दर्यका आधार वस्तु और शिल्पका सामंजस्य है। अल-कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि भी कथ्य-निरपेक्ष हो जानेपर—अपना लक्ष्य आप हो जानेपर या असामंजस्यमय हो जानेपर—अपना सौन्दर्य खो देते हैं। काव्यमें वस्तुका महत्त्व (कथ्यका महत्त्व) भारतीय समीक्षकको भी मान्य है। भारतीय दृष्टि भी सत्यके सौन्दर्यको काव्यकी वस्तुके रूपमें प्रतिष्ठित करनेके पक्षमें है। भारतीय समीक्षक जिस शब्दार्थकी स्थितिको काव्यकी परिभाषा देते समय अनिवार्य मानकर बार-बार दुहराता रहा है वह वस्तु (भाव, विचार आदि) रूप ही है। इस प्रकार काव्यके मूल तत्वों और उनकी काव्यगत स्थिति-

के सम्बन्धमें भारतीय और पाश्चात्य समीक्षामें तात्त्विक भेद नहीं है। भेद इन तत्त्वोंके सम्बन्धमें विचारगत-वैविध्य, विस्तार और सूक्ष्मतामें है।

भारतीय अलंकार-शास्त्र चिन्तनके सूक्ष्मतम धरातलतक पहुँच चुका है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध, शब्द-शक्ति, काव्यके नित्य और अनित्य गुण, दोष, अलंकार, अलंकारोंके शताधिक भेद, रीति और उसके अनेक भेद, वक्रोक्ति और उसका विस्तार, काव्यके उत्तम, मध्यम आदि भेद, ध्वनि और उसके अनेक भेद-प्रभेद आदि विषयोंपर भारतीय आचार्योंने जिस गहराईसे विचार किया है, वह पाश्चात्य समीक्षा-जगत्में आज भी दुर्लभ है। सारा यूरोप १८वीं शतीतक प्लेटो और अरस्तूकी मान्यताओंको ही दुहराता रहा है। भेदके कुछ अन्य आधार भी हैं। भारतीय समीक्षक 'कृति' के ही गुण-दोष देखता रहा है। उसीकी श्रेष्ठता या निकृष्टताकी घोषणा करता रहा है। कृतित्वमें व्यक्तित्वका प्रतिफलन किस सीमातक हुआ है? युगकी परिस्थितियोंसे वह कहाँतक प्रभावित है? उसके प्रेरक-भाव क्या हैं? आदि विषयोंपर भारतीय समीक्षकोंने विचार नहीं किया। भारतीय समीक्षाका शास्त्रीय स्वरूप समृद्ध होता रहा है। एकके बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तकी स्थापना होती रही है किन्तु कवि-विशेषके कृतित्व का सामूहिक मूल्याङ्कन नहीं किया गया है। शास्त्रीय ग्रन्थोंमें ही कवियोंकी उत्कृष्ट या निकृष्ट रचनाओंको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। कवियों-की महत्ताकी सूचना लोक-प्रचलित सूक्तियोंसे मिल जाती है। समीक्षा-कृतियाँ उनके विषयमें विस्तृत चर्चा नहीं करतीं। तात्पर्य यह है कि भारतीय समीक्षाका व्यावहारिक रूप विकसित नहीं हुआ। 'अलंकार' और 'रीति' सम्प्रदायकी समीक्षाको 'टेकनिकल क्रिटिसिज्म' कहा जा सकता है। 'वक्रोक्तिवादी' सम्प्रदाय-की समीक्षाको 'फॉर्मल क्रिटिसिज्म' कह सकते हैं। 'रस' और 'ध्वनि' सम्प्रदाय-की समीक्षा 'पोएटिक क्रिटिसिज्म'की सीमाओंमें आ सकती है किन्तु प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्मकी सीमामें निश्चित रूपसे किसी भी प्राचीन समीक्षा-सिद्धान्तको नहीं रख सकते। प्राचीन भारतीय समीक्षकोंने दर्शन और धर्मसे अवश्य प्रेरणा ली किन्तु समाजसे प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं ली।

हिन्दीकी आधुनिक समीक्षाके तत्त्वोंका निर्माण प्राचीन भारतीय समीक्षा तथा पाश्चात्य समीक्षा दोनोंके समन्वयके आधारपर हुआ है। द्विवेदी युगसे

ही हिन्दी-समीक्षा पाश्चात्य विचारधारासे प्रभावित होने लगी थी। आचार्य शुक्लने प्राचीन रस-सिद्धान्तका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भी आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकोंसे पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने विभावपक्षको महत्त्वपूर्ण मानकर उसके अन्तर्गत समस्त सामाजिक प्रेरणा एवं काल्पनिक रूप-विधानको अन्तर्भुक्त कर दिया। काल्पनिक रूप-विधानको साधन और रसानन्दको साध्य बतलाकर उन्होंने भारतीय रस-सिद्धान्तकी श्रेष्ठता अक्षुण्ण रखी। बीसवीं शतीके समीक्षा आन्दोलनों—अभिव्यंजनावाद (Expressionism), मूर्त्तिमत्तावाद (Imagism), संवेदनावाद (Impressionism) आदि—को व्यक्तिवादसे प्रेरित और व्यक्तिवादको भेदवादपर आधृत बताकर उनकी उपेक्षा कर दी; क्योंकि भेदवाद साधारणीकरणका विरोधी है। इस प्रकार शुक्लजीने उचितका संग्रह और अनुचितका त्याग करते हुए रस-सिद्धान्तकी युगानुकूल व्याख्या की। शुक्लजीके बाद पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र इन दो प्रमुख समीक्षकोंने पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तोंके उचित समन्वयपर बल दिया है और आदान-प्रदानके स्वरूपपर भी विचार किया है। (देखिए पं० नन्ददुलारे वाजपेयीका निबन्ध 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता'—'नया साहित्य : नये प्रश्न' और डॉ० नगेन्द्रका निबन्ध—'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र')।

वस्तुस्थितिको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तोंका भेद मिट जायगा और हम पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतिके इतने निकट आ जायेंगे कि हमारा प्राचीन स्वरूप संस्कार रूपमें ही शेष रह जायगा। जिस प्रकार आज हिन्दी-कविताका स्तर अन्तरराष्ट्रीय हो गया है वैसे ही हिन्दी-समीक्षा भी अन्तरराष्ट्रीय मानदण्डों एवं पद्धतियोंको स्वीकार करके उसी रंगमें रँग जायगी।

अध्याय ८

साहित्य के रूप—क्लैसिकल और रोमैण्टिक पद्धतियाँ—शैली

साहित्यके विकास-क्रम और कलात्मक सौष्ठवकी दृष्टिसे सबसे पहला स्थान कविता या रचनात्मक-साहित्यके छन्द-बद्ध रूप का है। शब्दोंका इस प्रकार विन्यास कि उसमें एक स्पष्ट संगीतमयता आ जाय, मनुष्यकी आदिम प्रवृत्ति है। काव्यके सम्बन्धमें इस प्रवृत्तिके विवेचनका आरम्भ एमर्सनने किया है।

"हम लोग तुक, यति और संगीतमयी अभिव्यक्तिके प्रेमी हैं। बच्चेको लोरी गाकर सुलाया जाता है। नाविक श्रम-गीत गाकर सुविधापूर्वक नौकायें खे सकते हैं। सैनिक युद्धवाद्योंकी ध्वनिपर उत्साहित होकर चल पड़ते हैं और युद्ध करते हैं। लयका सम्बन्ध हमारे हृदयकी धड़कनसे है और काव्य तथा संगीतमें पंक्तियों का छोटा-बड़ा होना हमारे श्वासोच्छ्वासकी गतिपर आधृत होता है। यदि आप अँग्रेजी के प्रचलित छन्दों— दश अक्षरोंसे निर्मित चतुष्पदी या अष्टा-क्षरी पंक्तियों को बीचमें डालकर पुनः अष्टाक्षरी पंक्तियों से बननेवाले प्रगीतों या इसी प्रकारके अन्य छन्दों—को गुनगुनायें तो बड़ी सरलतासे यह समझ सकते हैं कि इनका सम्बन्ध शारीरिक अवयवों से है। इनके मूलमें मनुष्यकी नाड़ियों की गति प्रेरक रूपमें विद्यमान है। इसीलिए इनका सम्बन्ध राष्ट्र-विशेषसे न होकर सम्पूर्ण मानव जाति से है। इन लयखंडोंमें आप वीरत्व, दैन्य और करुणा आदि भावनाओंके स्पन्दनसे आकम्पित भी होंगे और स्वयं ऐसे शब्दोंको ढूँढ़ने लगेंगे जो प्रवाह-पूर्तिमें समर्थ हों। किशोर बुद्धिके लोग तुक, लय, ढोल

१. एमर्सन (Emerson, १८०३-८२) निबन्धकार कवि और लेखक। बोस्टनमें पैदा हुआ था। हारवर्ड विश्वविद्यालयमें शिक्षा पाई थी। १८३३ में यूरोपका भ्रमण किया था। साहित्यके मूल्याङ्कनके क्षेत्रमें उसकी 'लिटरेरी एथिक्स' (*Literary Ethics*) कृति प्रसिद्ध है।

की तालबद्ध ध्वनि, स्वर-भंगिमा आदिपर मुग्ध होते हैं, वस्तुओंको जोड़ा-जोड़ा या एक-एकके अन्तरपर देखना पसन्द करते हैं और प्रौढ़ बुद्धिके लोगोंपर संगीत की तात्कालिक प्रभाव डालनेकी अद्भुत शक्तिका पता हम सभी लोगों को है। संगीत हमारी मनःस्थितिको बदल देता है और उसे संगीतमयकर देता है। मनुष्य नियमित लयखंडोंको अनुकूल शब्दचयनसे पूर्ण कर देना चाहता है या यों कहिए कि विचारोंका संगीतसे गठबन्धन करा देना चाहता है। जिस प्रकार मानव-युग्मोंके लिए हम यह विश्वासकर लेते हैं कि उनका निर्धारण ईश्वरके यहाँसे ही हुआ होता है उसी प्रकार विचारोंके लिए भी हम यह सोच लेते हैं कि प्रत्येक विचार-खण्डका सम्बन्ध निसर्गतः किसी न किसी लयखंड से है, यह अवश्य है कि विचारके अनुकूल लय-प्रवाह प्राप्तकर लेना कठिन है और प्रतिभा-वान् कवि ही इसे प्राप्तकर सकते हैं"[१]।

पद्यात्मक काव्यका सबसे अच्छा वर्गीकरण ग्रीक साहित्यमें हुआ है। उसके अनुसार काव्यके निम्नलिखित प्रमुख वर्ग होते हैं—

प्रबन्धकाव्य (epic or narrative), गीतिकाव्य (lyric), शोक-गीति (elegiac) और नाट्यकाव्य (dramatic)। इनमेंसे पहला अर्थात् प्रबन्ध काव्य या आख्यानक काव्य छन्दोबद्ध काव्यका सबसे बड़ा रूप है। प्रबन्ध या आख्यानक काव्यों में वृत्तान्त-कथनके अतिरिक्त संवाद-शैलीका भी बहुत महत्त्व होता है। वृत्तान्त-कथनमें तो कवि स्वयंको उत्तम पुरुषके रूपमें कल्पित करके पाठक या समस्त जनवर्गके प्रति—जिनको मूल रूपमें कहानी गाकर सुनाई गई होती है—कथा-वर्णन करता है किन्तु संवाद-शैलीके प्रयोगमें वह अपने पात्रोंके माध्यमसे अपनी बात व्यक्त करता है। नाटककी तुलनामें प्रबन्ध-शैलीके प्रयोग में लेखकको दो प्रकारकी सुविधायें होती हैं पहली बात तो यह है कि प्रबन्धकाव्य में घटना का काल असीम होता है और प्रधान कथानकको पूरा विस्तार दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक प्रासंगिक कथाओंका भी समावेश किया जा सकता है और इनको भी पर्याप्त विस्तार दिया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें अधिक से अधिक अद्भुत घटनाओंका समावेश हो सकता

१ पोयट्री एण्ड इमैजिनेशन।

है क्योंकि इसमें यह बन्धन नहीं है कि घटनाओं और पात्रोंको प्रत्यक्ष दिखाया जाय, जबकि नाटकमें प्रत्येक दृश्य और प्रत्येक पात्रको मंचपर प्रत्यक्ष दिखाना पड़ता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि आख्यानक या प्रबन्ध काव्यमें कवि अपनी कल्पनाका प्रयोग अधिक स्वच्छन्दतापूर्वककर सकता है। इसीलिए महान् प्रबन्ध काव्योंके बहुतसे वर्ण्य-विषय अलौकिक होते हैं और बहुतसे पात्र तथा घटनायें दिव्य होती हैं। प्रबन्ध काव्यकी रचनामें एक बहुत बड़ी कठिनाई भी है और इसी कठिनाईके कारण सफल प्रबन्ध-रचना अधिक नहीं हो पाती। यह काव्य-रूप इतना महत् है कि इसकी रचनाके लिए उत्तमोत्तम विचारोंकी प्रभूत राशि अपेक्षित है। इसके अभावमें यह गौरवमय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसे जीवनसे संयुक्त करनेके लिए एक महती प्रेरणा भी आवश्यक होती है। वस्तुतः इसमें एक पूरे युगकी विचार-धाराका समावेश होना चाहिए या किसी राष्ट्रकी सम्पूर्ण जनताकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यही कारण है कि सारे संसारमें महान् प्रबन्ध-काव्यों-की संख्या इनी-गिनी है। 'रामायण', 'महाभारत', 'इलियड' और 'ओडेसी', 'ल्यूक्रीटियस'[1]का 'दी नेचर' तथा मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' आदि कुछ ही कृतियाँ सफल प्रबन्ध-रचनाके रूपमें उदाहृतकी जा सकती हैं। इनमेंसे कुछ तो एकसे अधिक मानव-मस्तिष्ककी उपज हैं और कई पीढ़ियोंमें पूर्ण हुई हैं।

गीति-काव्य या लीरिक काव्य जैसा कि नामसे ही प्रकट है 'लायर' या इसी प्रकारके किसी अन्य वाद्यके साथ गाये जानेके लिए रचा जाता था। अब तो यह किसी भी ऐसी रचनाके लिए प्रयुक्त होता है जो अतिशय आवेगकी स्थिति में गान रूपमें उच्छ्वसित हो जाती है। शेलीकी प्रसिद्ध रचना- 'टू ए स्काइलार्क'-की अन्तिम पंक्तियोंमें विषय और व्यक्तित्वका पूर्ण समन्वय हो गया है। यह समन्वय इस प्रकारकी कविताकी सबसे बड़ी विशेषता है।

शोक गीति (elegiac poetry)की रचना गहन अनुभूतिके क्षणोंमें होती है किन्तु इसकी रचनाके समय आवेगमयी मनःस्थिति नहीं होती। यह

१. ल्यूक्रीट्रियस (Lucretius, ९९-५५ ई० पू०) रोमन कवि। इसके जीवनके विषयमें प्रामाणिक रूपसे अधिक ज्ञात नहीं है। इसकी प्रसिद्ध काव्य-कृति *De Natura* है, जो उपदेश प्रधान है।

आवेग-प्रधान न होकर विचार-प्रधान होती है। इसीलिए यह प्रायः अवसादमयी गम्भीरतासे युक्त होती है। इस प्रकारकी रचनाका उत्कृष्ट उदाहरण 'ग्रे' के शोक गीत हैं जो 'कन्ट्री चर्च यार्ड'में लिखे गए हैं।

नाट्य-काव्य एक ऐसी काव्य-रचना है जो मंच पर अभिनीत होनेके लिए लिखी जाती है। चूँकि इसकी प्रत्येक पंक्ति इस उद्देश्यसे लिखी जाती है कि उसे अभिनयमें भाग लेने वाले पात्रोंमें से कोई न कोई मंच पर सम्वादके समय उच्चरित करेगा इसलिए इसमें प्रत्यक्ष कथन या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। नाटकों में प्रत्यक्ष कथन या अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाको किसी न किसी बहानेसे स्पष्ट करते हैं। ग्रीक नाटकोंमें वृत्तान्त-कथन, जो प्रबन्ध काव्योंका प्रधान तत्त्व है, के लिए एक अलग पात्रकी योजनाकी जाती थी जो एक प्रकारका दूत या चर हुआ करता था। यह दूत उन घटनाओंका विस्तृत विवरण उपस्थित करता था जो मंच पर नहीं दिखाई जाती थीं। इसी प्रकार उन भावनाओं को जो कवि स्वयं मंच पर घटित होने वाली घटनाओंके प्रति आत्म-प्रतिक्रियाके रूपमें व्यक्त करना चाहता था, 'कोरस' या 'समवेतगान'के रूपमें व्यक्त करते थे। इस प्रकार ग्रीक नाटक एक ऐसा साहित्य-रूप था जिसमें प्रबन्ध-काव्य और गीतिकाव्यके तत्त्वों का समन्वय कर दिया गया था। आधुनिक नाटकोंमें वृत्तान्त-कथन और आत्म-अभिव्यक्तिके तत्त्वों को कम कर दिया गया है किन्तु कथा और सम्वाद या सम्वादके माध्यमसे व्यक्त कथाके तत्त्वको अपेक्षाकृत बढ़ा दिया गया है। नाट्य-साहित्यको मोटे तौर पर दुःखान्त (Tragedy) और सुखान्त (Comedy) कोटियों में विभक्त करते हैं। दुःखान्त नाटकोंमें मनुष्यको प्रतिकूल परिस्थितियोंके साथ सफलतापूर्वक संघर्ष करते हुए दिखाया जाता है। एटिकके दुःखान्त नाटकोंमें समाजकी सामान्य नैतिकताको मानने वाले व्यक्तिको अवांछित विपत्ति-का शिकार बनाया गया है और उसकी व्याख्या यों की गई है कि यह व्यक्ति तो सजाका अधिकारी नहीं था किन्तु इसे अपने पूर्वजों के पापका फल भोगना था, इसलिए इसे आपत्तियोंके जालमें फँसना पड़ा। इस सिद्धान्तमें दुर्वृत्तियोंके अस्तित्वकी व्याख्या बाइबिलके द्वितीय उपदेशके आधार परकी गई है और ज्यू एवं ईसाई जातिकी पौराणिक धारणाओंसे इसका सामंजस्य बैठ जाता है। एलिजाबेथके युगमें लिखे गए नाटकों में इस अवांछित आपत्तिका सम्बन्ध

सामयिक परिस्थितियों से जोड़ा गया है और जार्ज इलियटके उपन्यासों में, जो प्रत्यक्षवादी चिन्तकोंके प्रभावमें दार्शनिक आधार पर लिखे गए थे, यह समस्या विज्ञानके वंशानुगतताके सिद्धान्तके आधार पर समझाई गई है जिसमें यह माना जाता है कि बच्चा अपने पूर्वजों से शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ भी प्राप्त करता है।

सुखान्त नाटकों में संघर्षका परिणाम इसके विपरीत दृष्टिकोणके आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। आकस्मिक और अवांछित विपत्तिके क्षणों में भी—बशर्ते कि विपत्ति ऐसी सर्वनाशिनी न हो कि हममें करुणा और सहानुभूति जाग्रत हो जाय—अपने सौभाग्य और पड़ोसीके दुर्भाग्यकी तुलनासे एक प्रकारकी सन्तोष वृत्ति उत्पन्न होती है। यदि किसी व्यक्तिका हैट तेज हवामें उड़ जाता है और हम उसे उसके पीछे दौड़ते हुए देखते हैं या यदि कोई यात्री हाँफता हुआ प्लेट-फार्म पर पहुँचता है और गाड़ी तब तक धुआँ फेंकती हुई दूर चली गई होती है तो हम हँस पड़ते हैं क्योंकि ये इतनी साधारण आपत्तियाँ हैं कि हम अपनी हास्य-भावनाको रोक नहीं पाते। लेकिन यदि वही व्यक्ति अपना हैट खोनेके बजाय किसी गाड़ी के नीचे दब जाय तो उसके दर्दसे हमारी सहानुभूति जाग्रत होगी और हास्यके स्थान पर हमारे मनमें भय और पीड़ाकी भावनाका उदय होगा क्योंकि यह घटना हास्योत्पादक न होकर करुण होगी। यदि वही व्यक्ति जो अकस्मात् आपत्ति-ग्रस्त हो गया है दुष्ट प्रकृति एवं समाज-विरोधी आचरण वाला है तो हमारे मनमें एक प्रकारका सन्तोष या प्रसन्नताकी भावनाका उदय होगा चाहे उसकी विपत्ति कितनी ही गम्भीर क्यों न हो। आपत्ति हास्यो-त्पादक उसी स्थितिमें हो सकती है जब कि आपत्तिग्रस्त प्राणी शारीरिक पीड़ासे आक्रान्त न हो क्योंकि किसी व्यक्तिको दर्दसे छटपटाते हुए देखने पर भय एवं दुःखकी मिश्रित भावनाका ही उदय होगा, जबतक कि देखनेवाला अत्यन्त कठोर-हृदयप्राणी न होगा या परिस्थितियाँ एकदम असाधारण न होंगी। सुखान्त नाटकों का प्रमुख उद्देश्य परिस्थितियोंकी विडम्बनाका प्रदर्शन है और इनके द्वारा देखनेवालेके मनमें सन्तोषकी भावना उत्पन्न करना ही लेखकको अभीष्ट होता है। ये नाटक दर्शकोंके समक्ष यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अपने चारों ओर वे जो पीड़ा का साम्राज्य देख रहे हैं उसका बहुत कुछ अंश उचित है,

क्योंकि सुखान्त नाटकोंका एक प्रयोजन पापाचारके भद्देपनका प्रदर्शन या उपहास करना है, परम्परागत श्रेष्ठता पर आधृत गर्वकी व्यर्थता प्रमाणित करना है और अत्यधिक आत्मगौरवकी प्रवृत्तिको निःसार सिद्ध करना है, इनके द्वारा दर्शकों पर यह प्रकट किया जाता है कि उनका दुःख समाजव्यापी पीड़ा और आपत्तिका ही एक अंग है और उन्हें चाहिए कि वे अपने कष्टको ठीक उसी दृष्टिसे देखें जिस दृष्टिसे वे दूसरोंकी दुर्दशा देखते हैं। इस प्रकार इनके द्वारा सब मिलाकर यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है कि नैराश्यपूर्ण घटनाओं का भी एक आशामय एवं उज्ज्वल पक्ष होता है। नाटक जिन्हें रंगमंच पर दिखाया जाता है, चाहे वे सुखान्त हों या दुःखान्त उनमें साहित्यिकताके अतिरिक्त दो ऐसे अन्य तत्त्व भी होते हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। पहला तत्त्व अभिनयका है, जिसमें अभिनेता संगीत, क्रिया, एवं चेष्टाके माध्यमसे भावनाओं-को व्यक्त करता है। वह अभिव्यक्तिके लिए केवल वाणीका ही आधार नहीं लेता बल्कि उसकी वाणीका अभिप्राय उपर्युक्त चेष्टाओं द्वारा और अधिक स्पष्ट हो जाता है। दूसरा तत्त्व दृश्यांकनका है। मंच-प्रबन्धक प्रत्येक घटनाके अनुकूल अनेक कलात्मक प्रसाधनों एवं वैज्ञानिक तरीकोंका प्रयोग करके मंच-सज्जा करता है और वातावरण-निर्माणकी चेष्टा करता है। इस प्रकार नाटक एक समन्वित कला है जिसमें लेखक, अभिनेता और सूत्रधार (मंच संचालक) सब मिलकर सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं और चूँकि इस कला का क्रमिक विकास मंचको अधिक से अधिक पूर्ण बनानेकी चेष्टाके रूपमें हुआ है इसलिए आधुनिक नाटकोंमें मञ्च को सज्जित करनेवाले उपकरणोंके विकासके साथ ही साहित्यिक तत्त्वों के ह्रासकी प्रवृत्ति लक्षित होती है। आज गद्य साहित्यिक अभिव्यक्तिका सर्वसुगम माध्यम बन गया है। नाटकोंमें गद्यका प्रयोग वास्तविक जीवनकी वार्तालाप-प्रणाली के अधिक निकट होनेके कारण स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसलिए आधुनिक नाटककारोंने प्राचीन पद्यात्मक रचना-प्रणालीके उस संकुचित ढाँचेको—जिसमें प्रायः सभी प्राचीन महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृतियाँ लिखी गई हैं—छोड़ दिया है और गद्यका ही प्रयोग करने लगे हैं। साथ ही कविता (अपने संकुचित अर्थ में) भी अब नाटकीय न होकर आत्मव्यंजक होने लगी है और उपन्यास मानवीय कार्य व्यापारके आदर्श रूपको व्यक्त करनेका सर्वोत्तम साहित्यिक

माध्यम बन गया है। नाटकोंमें जहाँ एक ओर कवित्वका ह्रास हुआ है, वहीं समन्वित कलाके प्रतिनिधि रूपमें अपने आपमें उनका महत्त्व बढ़ गया है। आधुनिक युगमें उसके विकास-क्रममें बौद्धिक यथार्थवादिताका समावेश हुआ है। जिसकी अभिव्यक्तिके लिए रोजमर्राकी घरेलू भाषाको माध्यम रूपमें स्वीकार किया जाता है। इस यथार्थवादिताके कारण अभिनेताओंमें स्वाभाविकताकी प्रवृत्ति बढ़ गई है क्योंकि मानव-चरित्रको समझनेके नवीन बुद्धिसंगत तरीकों पर विश्वास किया जाने लगा है और दृश्य-विधानको इतना पूर्ण बनानेकी चेष्टा की जाने लगी है कि दर्शकोंको वास्तविकताका सच्चा भ्रम हो सके इसके लिए एक ओर तो दृश्य-चित्रण एवं घटना-योजनामें इतिहासकी सच्चाई लानेकी चेष्टा हो रही है और दूसरी ओर यान्त्रिक आविष्कारोंका पूरा उपयोग किया जा रहा है।

गद्यमें रचनात्मक साहित्य—गद्यमें प्रणीत रचनात्मक साहित्यरूपोंमें उपन्यास सर्वप्रमुख और सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसमें प्रायः युवक और युवतियों के जीवनका कल्पना-चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें प्रधानता प्रेम-तत्त्वकी होती है। परम्परागत नियमके अनुसार परिवार और समाज तथा भाग्यके प्रतिरोधके बावजूद अन्ततः नायक-नायिकाका मिलन दिखाया जाता है। जैसा निम्नलिखित पंक्तियों में कहा गया है—

'प्रेम-व्यापारका निर्वाह कभी भी बाधारहित नहीं होता'। स्वच्छन्दतावादी उपन्यासोंमें प्रेमतत्त्वके साथ साहसिकताकी भावना भी मिली होती है और कभी कभी तो यही प्रधान हो जाती है। प्रायः इस प्रकारके उपन्यासोंमें पूरा वातावरण अवास्तविक और अलौकिक होता है या दैवीपात्रोंका समावेश किया जाता है। जब कभी उपन्यासोंके माध्यमसे किसी गम्भीर अभिप्रायका निदर्शन करना होता है तो प्रतीकात्मक या व्यंग्य-कथाकी योजना की जाती है। इसमें भी घटनायें और पात्र पूर्णतः काल्पनिक होते हैं। 'डान क्विक्जोट'[1] 'दी पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस'[2]

---

१. 'डान क्विक्जोट' (*Don Quixote*) स्पेनके प्रसिद्ध लेखक सर्वेंटीज (Cervantes) की प्रसिद्ध व्यंग्य कृति। इसकी रचना १६०५ ई० में हुई थी।—अनु०

२. 'दि पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' (*The Pilgrim's Progress*) जान बनियन (१६२८-८८) की विश्वविख्यात कृति। यह भी एक व्यंग्य-कथा है।—अनु०

और गुलिवर्स ट्रैवल्स[१] इस कोटिके उपन्यासोंके लोकप्रिय उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त उपन्यासोंकी एक तीसरी कोटि भी है जिसकी निजी विशेषताये स्पष्टतया लक्ष्य की जा सकती हैं। यह तीसरी कोटि आंचलिक उपन्यासो की है। इन उपन्यासोंमें स्थान-विशेषके प्राकृतिक दृश्यों या जाति-विशेषकी सांस्कृतिक विशेषताओंका विस्तृत वर्णन किया जाता है। कथा-सूत्र बिल्कुल झीना होता है, जिसका उपयोग इन वर्णनोंको परस्पर सम्बद्ध करनेके लिए किया जाता है। इन उपन्यासोंका अपना अलग मूल्य है। उच्चतर उपन्यासोंकी तुलनामें इनका वही स्थान है जो पेंटिंगकी तुलनामें फोटोग्राफी का है। उन्नीसवीं शतीमें उपन्यास-साहित्यमें उल्लेखनीय प्रगति हुई है। विकासके परिणाम-स्वरूप उपन्यास दार्शनिक होने लगे हैं। तात्पर्य यह कि उच्चतर कोटिके उपन्यासोंके लेखक अपनी कथावस्तु तथा पात्र दोनोंके विकासमें आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन का आधार ग्रहण करने लगे हैं। वैज्ञानिक अध्ययनके परिणामस्वरूप मानव-मस्तिष्ककी कार्य-पद्धतिके सम्बन्धमें तथा व्यक्ति एवं जातियोंके क्रमिक विकासके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं। आधुनिक उपन्यास लेखक इन सभीका उपयोग कथा-विकास एवं पात्र-योजनाके सन्दर्भमें करने लगा है। इस प्रकार उपन्यास लेखक सम्पूर्ण जातिके सामान्य अनुभव और अपनी पीढ़ीके नर नारियोंके जीवनके अपने व्यक्तिगत अनुभव दोनोंका उपयोग उपन्यास-रचना के लिए करने लगा है। वह समाजका अध्ययन वाह्य एवं आभ्यान्तरिक दोनों दृष्टिकोणोंसे करनेमें समर्थ है। इसीलिए वह अपनी कृतिके माध्यमसे जीवनका ऐसा अध्ययन, पात्रोंका ऐसा विश्लेषण तथा अभिप्रायोंका ऐसा निदर्शन करनेमें सफल हो सका है, जो पीढ़ी दर पीढ़ीके नर-नारियों एवं देश-देशान्तरके निवासियोंके लिए बोधगम्य एवं रमणीय प्रतीत होता है।

इस प्रकार विकसित होकर उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक माध्यम बन गया है। एक सीमा तक इसने नाटकोंके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर लिया है क्योंकि काल्पनिक पात्रोंको कार्यरत दिखाकर उनके माध्यमसे यह भी जीवनका चित्र प्रस्तुत करता है। इसीलिए उपन्यासोंको पाकेट थियेटर (pocket theatre)

---

१. गुलिवर्स ट्रैवेल्स (*Gulliver's Travels*)—जानथन स्विफ्टकी विख्यात कृति। इसकी रचना (१७२६-२७ ई०) में हुई थी।—अनु०

भी कहा जाता है। इसके साथ ही उपन्यास सभी साहित्य रूपोंमें सबसे अधिक पढा जाता है इसलिए यह शैक्षणिक प्रचारका जबरदस्त माध्यम है। इन परिस्थितियोंमें यदि वर्तमान शतीके कुछ महत् मस्तिष्क वाले साहित्यकारोंने अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिका माध्यम उपन्यासोंको ही बनाया है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। रूसमें टॉल्स्टाय,[1] फ्रांसमें एमिल जोला[2] और इंगलैण्डमें जार्ज मेरिडिथ (George Meredith) ऐसे उदाहरण हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है। इन सभी महान् लेखकोंने अपने युगके चिन्तनको उपन्यासों के माध्यमसे ही व्यक्त किया है। उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जो इतिहास और दर्शनके तथ्य, निबन्धकी भावाभिव्यक्ति तथा कथावस्तु या घटनाओंके घात-प्रतिघात पर आधृत रचनातत्त्व, जो सभी काव्यात्मक कृतियोंके लिए समान रूपसे आवश्यक है, सभी के समन्वित आधार पर अपना रूप खडा करता है। यद्यपि इसमें संगीत और लयाधृत छन्दोबद्धताका अभाव होता है किन्तु इसकी पूर्ति दो अन्य तत्त्वोंके योगसे हो जाती है। एक तो इसमें गद्य-विधानकी सक्षिप्तता होती है, दूसरे छन्द-बन्धनसे मुक्त होनेके कारण अभिव्यक्ति-स्वच्छन्दता आ जाती है।

इतिहास और जीवनी—साहित्यके सत्य पर विचार करते समय इन दोनों साहित्य-रूपों की विशेषताओंका उल्लेख हो चुका है। इस प्रकारकी कृतियोंको यदि स्थायित्व प्राप्त करना है तो इनका निष्पक्ष होना आवश्यक है। निष्पक्षता घटनाओंके सन्तुलित आकलनका परिणाम होती है चाहे वह सहज रूपमें प्राप्त हो चाहे अभ्याससे। इसके साथ ही इतिहासकार और जीवनी लेखकमें यह विवेक होना चाहिए कि जिस घटना-पुंजके आधार पर वह अपनी कृतिका निर्माण करना चाहता है, उसमेंसे आकस्मिक घटनाओंको अलग करके जो आवश्यक घटनायें हों, उनका चयन कर सके। निष्पक्षता और आवश्यक तथ्योंके चयनके विवेक द्वारा ही घटनाओंको सुलझाकर

---

१. टॉल्स्टाय (Count Tolstoy, १८२८-१९१०) रूसका प्रसिद्ध उपन्यास लेखक और समाज-सुधारक।—अनु०

२. जोला (M. Emile Zola, १८४०-१९०२) फ्रांसका प्रसिद्ध उपन्यास लेखक और पत्रकार। इसे यथार्थवादका व्याख्याता समझा जाता है।—अनु०

प्रस्तुत किया जा सकता है। आवश्यक तथ्योंको सुलझाकर चुन लेनेके बाद उन्हें पाठकके समक्ष प्रभावशाली रूपमें व्यक्त करनेकी बात रह जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि इतिहास या जीवनीकी प्रमुख घटनाओं और दृश्योंकी आधारभूमि बननेवाले अनेक स्थानों और राज्योंका विवरण प्रस्तुत कर लिया जाय। स्थानोंका यथार्थ विवरण प्रस्तुत करनेके लिए यह आवश्यक है कि लेखक उन वर्णनीय स्थानोंकी प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर ले। यदि घटनायें अतीतकी वस्तु बन चुकी हैं तो स्थानोका यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करनेमें ऐतिहासिक ध्वसावशेषों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों एवं प्राचीन रीति-रस्मोंसे सहायता ली जा सकती है। सम-सामयिक इतिहासकारोंकी सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमें इन्हीं उपकरणोंके प्रचुर उपयोगके कारण ही घटनाओं और दृश्योंके विवरणमें सजीवता और चित्रात्मकता आ सकी है।

इतिहासकार किसी राष्ट्रके सम्पूर्ण जन-समुदायकी पूर्ण गाथा प्रस्तुत करता है या युग-विशेषकी गाथा प्रस्तुत करता है जब कि जीवनी लेखक व्यक्ति विशेष का चरित वर्णन करता है। इस वर्ण्य-विषयके अन्तरके कारण दोनोंकी रचना-पद्धतिमें भी थोड़ा-बहुत अन्तर लक्ष्य किया जा सकता है। जीवनी लेखकके लिए आवश्यक है कि वह अपने चरित-नायकके प्रति एक सीमातक व्यक्तिगत सहानुभूति बनाए रखे। इतिहासकारके लिए इस प्रकारकी सहानुभूतिकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

निबन्ध अपनी संक्षिप्तता और आत्माभिव्यंजनाके कारण अन्य गद्य-विधानों मे पृथक् अस्तित्व रखता है। इसमें किसी विषयपर केवल एक ही दृष्टिसे विचार किया जा सकता है और विषयको प्रस्तुत करते समय लेखकके व्यक्तित्वको अधिक महत्त्व दिया जाता है। उसी विषयपर जब कोई पुस्तक या प्रबन्ध प्रस्तुत किया जाता है तो विषयको ही महत्त्व दिया जाता है व्यक्तित्वको नहीं। प्रबन्ध रचनासे इसका वही सम्बन्ध है जो एक पूर्ण चित्रकारीसे रेखाङ्कनका। जिस प्रकार रेखा-चित्रमें प्रकृतिका अंकन कुछ थोड़ी-सी रेखाओंके माध्यमसे ही कर दिया जाता है, उसी प्रकार निबन्धमें किसी भी वर्ण्य-विषयकी कुछ थोड़ी-सी विशेषताओंको ही उभारकर उसे प्रस्तुत कर दिया जाता है। जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्यके प्रत्यक्ष निरीक्षणके सद्यः प्रभावको रेखाचित्रकार सजीव कर देता है, उसी

प्रकार किसी भी विषयपर विचार करते समय लेखकके मनपर जो तात्कालिक प्रभाव पड़ता है, उसे ही वह निबन्धमें व्यक्त कर देता है। निबन्ध-रचनामें कथ्य-चयन स्वच्छन्दतापूर्वक किया जाता है। इसलिए सभी अरचनात्मक गद्य-विधानोंमें यह सर्वाधिक कलात्मक है।

क्लैसिकल और रोमैण्टिक—रचनात्मक और अरचनात्मक दोनों ही प्रकारकी साहित्य-कृतियोंमें हम दो विरोधी प्रवृत्तियोंका प्रभाव लक्ष्य कर सकते हैं। एक प्रवृत्ति तो यह है कि सभी प्रकारकी साहित्य-कृतियोंकी रचनामें परवर्ती महान् लेखकोंका यथासम्भव अनुकरण किया जाय। दूसरी प्रवृत्ति यह है कि रचना में समसामयिक जीवनकी यथार्थताको व्यक्त किया जाय और ऐसा करनेमें यदि प्राचीन मान्यताएँ खंडित होती हैं तो उनकी चिन्ता न की जाय। प्रथम प्रवृत्तिको सामान्यतः क्लैसिकल और दूसरीको रोमैण्टिक कहते है। क्लैसिकल प्रवृत्तिको स्वीकार करलेने पर सबसे बड़ा खतरा यह है कि प्राचीन रचनापद्धतिके निर्वाहके प्रयत्नमें हम कृतिको निर्जीव बना देते हैं क्योंकि प्राचीन पद्धति वर्तमान युगकी सामाजिक और मानसिक परिस्थितियोंके सर्वथा अनुकूल नहीं होती। रोमैण्टिक पद्धति स्वीकार कर लेने पर दूसरे प्रकारका खतरा है। साहित्यके उन गुणोंको जो युगोंसे मान्य होते हैं और जिनका स्थायी मूल्य होता है, प्रायः छोड़ दिया जाता है और ऐसे प्रभावोंको ग्रहण करनेका प्रयत्न किया जाता है जो सामयिक दृष्टिसे मूल्यवान् होते हैं, जिनका वर्तमान युगके विचारों और आन्दोलनोंसे सम्बन्ध होता है और इसीलिए समसामयिक पाठक उनमें विशेष आकर्षण लक्ष्य करता है किन्तु भावी पीढ़ीके लिए इन प्रभावोंका कोई महत्त्व नहीं होता। वह उनमें दिलचस्पी लेना तो दूर, ठीकसे उन्हें समझ नहीं पाता। दोनों पद्धतियोंकी इस आत्यन्तिक स्थितिको अलग करके विचार किया जाय तो प्रत्येकमें कुछ स्पष्ट और विशिष्ट गुण हैं, यद्यपि ये गुण अलग-अलग वर्गोंके व्यक्तियोंको ही प्रभावित कर सकते हैं। जो लेखक क्लैसिकल साहित्यकी परम्पराओंको आत्मसात् कर लेते हैं, उनमें अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक उत्कृष्टता और पूर्णता लक्षित होती है। उनमें एक प्रकारकी महत्ता आ जाती है जो सार्वयुगीन और सार्वभौम कलाकारों एवं महान् प्रतिभा-सम्पन्न लेखकोंके अध्ययन मनन एवं चिन्तनसे उद्भूत होती है। जो लेखक रोमैण्टिक पद्धतिका अनुसरण करते हैं उनकी कृतियोंमें हम 'कुछ नवीन' पानेकी आशा

करते हैं यह नवीनता मानव जातिके क्रमिक विकासका कारण और परिणाम दोनों ही होती है और इसीके कारण साहित्य मानव-जीवनका एक अंग बन सका है।

शैली—अन्तमें कुछ शब्द साहित्य-रचनाके उस विशेष गुणके सम्बन्धमें भी कहना आवश्यक है जो एक साथ ही स्पष्ट और रहस्यमय दोनों ही है और जिसे 'शैली' कहते हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्तिके सम्पर्कमें पहली बार आने पर हम उसके आचार-व्यवहारकी अच्छाई या बुराईकी प्रतिक्रिया स्वरूप उसके प्रति आकर्षित या उदासीन होते हैं, उसी प्रकार किसी लेखककी रचनाको पढ़कर हमारे मनमें उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार हम किसी व्यक्तिके ऊपरी व्यवहारको देखकर उसके चरित्रका मूल्याङ्कन कर लेते हैं, उसी प्रकार किसी लेखककी रचनाको सरसरी तौर पर देखकर उसकी शैलीका स्वरूप समझ लेते हैं। लेकिन जिस प्रकार उसी व्यक्तिके निकट सम्पर्कमें आने पर उसके कार्योंको भली प्रकार देखने पर और उसके मानसिक गुणोंकी सच्ची जानकारी प्राप्त कर लेने पर हम उसके चरित्रके सम्बन्धमें जो निश्चित धारणा बनाते हैं, वह उसके ऊपरी व्यवहारको देखकर किए गए मूल्याङ्कनसे सर्वथा भिन्न होती है, उसी प्रकार किसी कृतिको सरसरी तौर पर देखकर उसकी शैलीका जो स्वरूप हम निर्धारित करते हैं, वह उसकी वास्तविक महत्ताका सूचक नहीं होता। व्यक्तिके सन्दर्भमें जो महत्त्व 'मैनर' (ऊपरी व्यवहार) का है, लेखकके सन्दर्भमें वही महत्त्व शैलीका है। इसलिए जिस रूपमें और जिस भावनाके साथ हम यह कह सकते हैं कि शिष्टाचार मनुष्यका निर्माता है, उसी रूपमें हम यह कह सकते हैं कि शैली ही मनुष्य है। क्योंकि शैली वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य, शब्द-चयन, या किसी विशिष्ट साहित्यरूप-ग्रहण या त्यागका नाम नहीं है। वह एक ऐसा तत्त्व है जो इन सबसे भिन्न होते हुए भी इन सभीको प्रभावित करता है। यह साहित्य-रचनाका वह तत्त्व है, जिसके माध्यमसे रचयिता अनजाने ही अपने निजी स्वभाव, रुचि और परिस्थितियोंकी अभिव्यक्ति कर देता है और रचनाके बाह्य स्वरूपको देखकर यह कतई प्रकट नहीं होता कि उसमें किसी साहित्यिक मर्यादाका उल्लंघन किया गया है या पालन किया गया है। यह एक रहस्यमय परिधान है जिसे धारण करके रचयिता पाठकके सामने उपस्थित होता है।

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-सूची

Absolute—निरपेक्ष
Aesthetics—सौन्दर्य शास्त्र
Allegorical—रूपकात्मक, समासोक्ति-मूलक
Appeal—प्रभावित करना
Appeal to the imagination—कल्पना को प्रभावित करना
Appreciation—दाद देना, प्रशंसा करना
Architecture—वास्तुकला, शिल्पविद्या
Art—कला
Artistic—कलात्मक
Canons—नियम, सिद्धान्त
Classical—अभिजात, शास्त्र-सम्मत
Classification—वर्गीकरण
Comedy—सुखान्त नाटक
Communicate—सम्प्रेषित करना
Conceptions—मान्यतायें, धारणायें
Concretisation—मूर्तिमत्तावाद
Constituents—पूरक अंग
Creative—रचनात्मक
Criticism—समीक्षा, आलोचना
Descriptive—वर्णनात्मक
Diction—पद-रचना-वैशिष्ट्य
Destructive—ध्वंसात्मक
Doctrine—मत, सिद्धान्त
Dramatic—नाटकीय
Elegy—शोक गीत
Elegiac—शोकपरक, वेदनामय

Element—तत्त्व
Elementary—प्रारंभिक, मूलभूत
Emotions—मनोवेग
Epic—महाकाव्य
Episodes—प्रासंगिक कथा, उपकथा
Essay निबंध
Excellence—उत्तमता, वैशिष्ट्य
Feelings—भाव, धारणायें
Fiction—काल्पनिक कथा, उपन्यास
Fine arts—ललित कलायें
Form—रूप
Foundation—आधार
General—सामान्य, सर्वनिष्ठ
Harmony—समंजसता, अनुरूपता
Ideas—विचार, उद्भावना
Idealization—आदर्शीकरण
Illusion—मिथ्या-प्रतीति
Images—बिम्ब
Imagination—कल्पना
Imitation—अनुकरण
Impression—प्रभाव
Interpretation—व्याख्या
Judgment—मूल्याङ्कन, निर्णय
Literary—साहित्यिक
Literary heritage—साहित्यिक विरासत
Literary medium—साहित्यिक माध्यम
Literary taste—साहित्यिक अभिरुचि
Lyric—गीति काव्य
Manifestation—अभिव्यक्तीकरण, रूपायन
Manner—रीति, ढंग, पद्धति
Material basis—मूर्ताधार
Matter—विषय, वस्तु, पदार्थ

Mechanical—यान्त्रिक
Medium—माध्यम
Mental aspect—मनोगत रूप
Mental picture—मनोबिम्ब
Metre—वृत्त, छन्द
Model—नमूना
Music—संगीत
Objective—वस्तुनिष्ठ
Original—मौलिक
Orginality—मौलिकता
Painting—चित्रकला
Passions—प्रबल मनोवेग
Pathos—करुण भावना
Perception—सहज बोध
Personalities—व्यक्तित्व
Philosophy—दर्शन
Physical—भौतिक, बाह्य
Pleasure—आनन्द, आह्लाद
Poetic—काव्यात्मक
Poetic presentation—काव्यात्मक अभिव्यक्ति
Poetry—काव्य
Principles—सिद्धान्त
Professional—पेशेवर
Psychological—मनोवैज्ञानिक
Realistic—यथार्थवादी
Realism—यथार्थवादिता
Reflection—प्रतिबिम्बाङ्कन
Renaissance—नवजागरण
Review—समीक्षा
Rhyme—तुकान्त
Romantic—स्वच्छन्दतावादी
Science—विज्ञान

Scientific—वैज्ञानिक
Sculpture—मूर्तिकला, प्रतिमा-विज्ञान
Sensation—संवेदना
Sensitive—संवेदनशील
Sentiment—स्थायी भाव
Sketch—रेखाङ्कन
Spiritual—आध्यात्मिक
Structure—ढाँचा, वाह्याकार
Style—शैली
Subjective—व्यक्तिनिष्ठ
Sublime—उदात्त
Sublimity—उदात्तता
Suggestion—संकेत
Symbols—प्रतीक
Symmetry—अनुकूलता
Syntax—वाक्य-रचना
Technical—पारिभाषिक, शास्त्रीय
Technical Criticism—शास्त्रीय समीक्षा
Test—कसौटी
Theory—सिद्धान्त
Tradition—परंपरा
Tragedy—दुखान्त नाटक
Treatment—प्रतिपादन, आचरण
Values—मूल्य
Verse—पद्य-खंड
Verisimilitude—सम्भाव्याङ्कन

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

(अ) मूल लेखक द्वारा उल्लिखित

ग्रीक

१. प्लेटो, दि रिपब्लिक

२. अरिस्टाटेल, दि पोएटिक्स

मॉडर्न

३. बेकन, एडवान्समेंट ऑव लर्निंग

४. एडिसन, दी स्पेक्टेटर

५. लेसिंग, लोकून

६. कज़िन विक्टर, दि ट्रू , दि ब्यूटीफुल एण्ड दि गुड

७. वर्ड्सवर्थ, ऑबजरवेशन्स प्रीफेक्स्ड टू दि सेकेण्ड एडीसन ऑव लीरिकल बैलेड्स, एसे सप्लिमेंटरी टू दि प्रीफेस ऑव हिज एडीसन आव १८१५

८. ब्राउनिंग, एलिजाबेथ बैरेट, ऑरोराले

९. आर्नाल्ड, मैथ्यू , एसे इन क्रिटिसिज्म (फर्स्ट एण्ड सेकेण्ड सिरीज)

१० रस्किन, मॉडर्न पेण्टर्स, लेक्चर्स ऑन आर्ट

११. स्विनबर्न, एसेज़ एण्ड स्टडीज़

१२. मेरिडिथ, जार्ज, चैप्टर ऑव डाइयाना ऑव दी क्रासवेज़

१३. बेसेंट, सर वाल्टर, आर्ट ऑफ़ फिक्शन

१४. एमर्सन, एसे ऑन पोएट्री एण्ड इमैजिनेशन

१५. वर्सफोल्ड, डब्ल्यू बेसिल, प्रिंसिपल्स ऑव क्रिटिसिज्म; ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑव लिटरेचर।

(आ) अनुवादक द्वारा प्रयुक्त

१. हडसन, विलियम हेनरी, एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव लिटरेचर

२. सेन्टसबरी, जी०, ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश क्रिटिसिज्म

३. पाण्डेय, (डॉ०) कान्तिचन्द, कम्परेटिव एस्थिटिक्स
४. कॉडवेल क्रिस्टोफर, इल्युजन एण्ड रियल्टी
५. ऐयंगर, के० आर० श्रीनिवास, दि एडवेंचर ऑव क्रिटी
६. हफ, ग्राहम, दि रोमांटिक पोएट्स
७. हारवे सर पॉल (सं०), दि आक्सफोर्ड कम्पैनियन टु इंग
८. जे० एम० डेन्ट एण्ड संस लिमिटेड, लंडन, एवरीमैन्स
९. डॉ० नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा
१०. द्विवेदी डॉ० रामअवध, अंग्रेजी भाषा और साहित्य
११. वाजपेयी, पं० नन्ददुलारे, नया साहित्य, नये प्रश्न
१२. वर्मा, डॉ० रवीन्द्रसहाय, पाश्चात्य साहित्यालोचन और प्रभाव
१३. मिश्र, डॉ० भगीरथ, काव्यशास्त्र
१४. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, रस मीमासा
१५. डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन
१६. गुप्त, लीलाधर, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त
१७. तिवारी, हंसकुमार, कला
१८. 'प्रसाद' जयशंकर, काव्यकला तथा अन्य निबंध
१९. कालेलकर, काका, कला : एक जीवन-दर्शन
२०. शर्मा, डॉ० हरद्वारीलाल, काव्य और कला
२१. पाण्डेय, गंगाप्रसाद (सं०), महादेवी का विवेचनात्मक ग
२२. द्विवेदी, डॉ० हजारीप्रसाद, अशोक के फूल
२३. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, चिन्तामणि, भाग २
२४. अग्रवाल, भारतभूषण (सं०), डॉ० नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध
२५. तिवारी, डॉ० बलभद्र, आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी
२६. उपाध्याय, पं० बलदेव, संस्कृत आलोचना
२७. सिंह, डॉ० सत्यव्रत (सं०), साहित्य दर्पण
२८. एबरक्रॉम्बी (अनु० सोमेश पुरोहित), साहित्यालोचन के सि ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म)